

Chapter बत्तीस

कर्म-बन्धन

कपिल उवाच

अथ यो गृहमेधीयान्धर्मानेवावसन्गृहे ।

काममर्थं च धर्मान्स्वान्दोग्धि भूयः पिपति तान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

कपिलः उवाच— भगवान् कपिल ने कहा; अथ— अब; यः— जो व्यक्ति; गृह-मेधीयान्— गृहस्थों के; धर्मान्— कर्तव्य; एव— निश्चय ही; आवसन्— रहते हुए; गृहे— घर में; कामम्— इन्द्रियतृप्ति; अर्थम्— आर्थिक विकास; च— तथा; धर्मान्— धार्मिक अनुष्ठान; स्वान्— अपने; दोग्धि— भोगता है; भूयः— पुनः पुनः; पिपति— सम्पन्न करता है; तान्— उनको।

भगवान् ने कहा : गृहस्थ जीवन बिताने वाला व्यक्ति धार्मिक अनुष्ठान करते हुए भौतिक लाभ प्राप्त करता रहता है और इस तरह वह आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति की अपनी इच्छापूर्ति करता है। वह पुनः पुनः इसी तरह कार्य करता है।

तात्पर्य : गृहस्थ दो प्रकार के होते हैं— गृहमेधी तथा गृहस्थ। गृहमेधी का जीवन-लक्ष्य इन्द्रियतृप्ति रहता है और गृहस्थ का आत्म-साक्षात्कार। यहाँ भगवान् गृहमेधी के सम्बन्ध में अथवा उस व्यक्ति के विषय में बोल रहे हैं, जो इस जगत में बना रहना चाहता है। उसका कार्य है कि आर्थिक विकास के लिए धार्मिक अनुष्ठान करके भौतिक लाभों का भोग करे और अन्ततः अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करे। उसे इससे अधिक और कुछ नहीं चाहिए। ऐसा व्यक्ति धनी बनने तथा अच्छी तरह से रहने और खाने पीने के लिए जीवन भर कठोर श्रम करता है। वह किसी पुण्यकार्य के लिए कुछ दान देकर अगले जीवन में स्वर्गलोक को जा सकता है, किन्तु वह जन्म-मृत्यू के आवागमन को रोकना नहीं चाहता और न संसार के दुखों का अन्त देखना चाहता है। ऐसा व्यक्ति गृहमेधी कहलाता है।

गृहस्थ वह व्यक्ति है, जो अपने परिवार, पत्नी, बच्चों तथा कुटुम्बियों के साथ रहता है, किन्तु उनसे कोई लगाव नहीं रखता। वह साधु या संन्यासी न बनकर पारिवारिक जीवन बिताना पसन्द करता है, किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करना या कृष्णभावनामृत के पद तक पहुँचना रहता है। किन्तु यहाँ कपिलदेव गृहमेधी के विषय में बता

रहे हैं जिनका लक्ष्य भौतिकतावादी सम्पन्न जीवन बिताना है और जिसे वे यज्ञ, दान तथा सद्कर्म द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। वे अच्छे पदों पर आसीन होते हैं, अतः वे अपने पुण्यकर्मों की कमाई का उपयोग करते हैं और बारम्बार इन्द्रियतृप्ति के कार्यकलाप करते रहते हैं। प्रह्लाद महाराज ने कहा है—पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्—वे चबाये हुए को पुनः चबाना पसन्द करते हैं। समृद्ध होते हुए भी वे पुनः पुनः भौतिक यातनाएँ झेलते हैं, किन्तु ऐसे जीवन का परित्याग करना नहीं चाहते।

स चापि भगवद्धर्मात्काममूढः पराङ्मुखः ।

यजते क्रतुभिर्देवान्पितृंश्च श्रद्धयान्वितः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; च अपि—और भी; भगवत्-धर्मात्—भक्ति से; काम-मूढः—कामवासना से अन्धा; पराक्-मुखः—पराङ्मुख, से मुख मोड़कर; यजते—पूजा करता है; क्रतुभिः—यज्ञों से; देवान्—देवताओं की; पितृन्—पूर्वजों की; च—तथा; श्रद्धया—श्रद्धा से; अन्वितः—युक्त।

ऐसे व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्त होने के कारण भक्ति से विहीन होते हैं, अतः अनेक प्रकार के यज्ञ करते रहने तथा देवों एवं पितरों को प्रसन्न करने के लिए बड़े-बड़े व्रत करते रहने पर भी वे कृष्णभावनामृत अर्थात् भक्ति में रुचि नहीं लेते।

तात्पर्य : भगवद्गीता (७.२०) में कहा गया है कि जो व्यक्ति देवताओं की पूजा करते हैं उनकी बुद्धि भ्रष्ट रहती है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः*। वे इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आकृष्ट रहते हैं, फलतः वे देवताओं को पूजते हैं। निस्सन्देह वैदिक शास्त्रों में संस्तुति की गई है कि जो धन, स्वास्थ्य या विद्या का इच्छुक हो उसे देवताओं का पूजन करना चाहिए। भौतिकतावादी व्यक्ति की माँगें अनेक हैं, अतः उसकी इन्द्रियों को तुष्ट करने वाले देवता भी अनेक हैं। जो 'गृहमेधी' समृद्ध जीवन बिताना चाहते हैं, वे सामान्यतया पिण्ड-दान द्वारा देवताओं या पितरों को पूजते हैं। ऐसे व्यक्ति कृष्णभावनामृत से विहीन होते हैं और भगवान् की भक्तिमय सेवा करने में रुचि नहीं लेते। इस प्रकार का तथाकथित पवित्र तथा धार्मिक व्यक्ति निराकारवाद का प्रतिफल है। निर्विशेषवादियों की धारणा है कि परम सत्य के कोई रूप नहीं होता। अतः अपने लाभ के लिए, चाहे जिस रूप की कल्पना करके उसकी पूजा कर ली जाय। अतः 'गृहमेधी'

या भौतिकतावादी व्यक्ति कहते हैं कि वे भगवान् की पूजा के लिए किसी देवता की पूजा कर सकते हैं। विशेष रूप से, हिन्दुओं में से, जो लोग मांसाहारी हैं, वे काली की पूजा को वरीयता प्रदान करते हैं, क्योंकि देवी के समक्ष एक बकरे की बलि का विधान है। उनका कहना है कि कोई चाहे देवी काली की पूजा करे या भगवान् विष्णु अथवा किसी देवता की, लक्ष्य एक-सा होता है। यह प्रथम कोटि का पाखण्ड है और ऐसे लोग पथभ्रष्ट हो जाते हैं। किन्तु फिर भी उन्हें यही दर्शन पसन्द है। *भगवद्गीता* ऐसे पाखण्ड को स्वीकार नहीं करती। उसमें स्पष्ट उल्लेख है कि ऐसी विधियाँ बुद्धिभ्रष्ट लोगों के लिए हैं। यहाँ इसी न्याय की पुष्टि की गई है और इसीलिए *काममूढ* शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है, जिसने अपनी इन्द्रियाँ खो दी हैं या जो इन्द्रियतृष्टि के लिए कामवासना से अन्धा हो चुका है। काममूढ लोग कृष्णभावनामृत तथा भक्ति से विहीन होते हैं और इन्द्रियतृप्ति की प्रबल इच्छा से अन्धे बने रहते हैं। देवताओं के पूजने की भर्त्सना *भगवद्गीता* तथा *भागवत* दोनों में की गई है।

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान् ।

गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—देवों तथा पितरों को; श्रद्धया—आदरपूर्वक; आक्रान्त—पराजित; मतिः—मन; पितृ—पितरों को; देव—देवताओं को; व्रतः—उसका व्रत; पुमान्—व्यक्ति; गत्वा—जाकर; चान्द्रमसम्—चन्द्रमा के; लोकम्—लोक को; सोम-पाः—सोमरस पीते हुए; पुनः—फिर; एष्यति—लौट आता है।

ऐसे भौतिकवादी व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति से आकृष्ट होकर एवं अपने पितरों एवं देवताओं के प्रति भक्तिभाव रखकर चन्द्रलोक को जा सकते हैं, जहाँ वे सोमरस का पान करते हैं और फिर से इसी लोक में लौट आते हैं।

तात्पर्य : चन्द्रमा को स्वर्ग का एक लोक माना जाता है। विभिन्न वेदविहित यज्ञों यथा देवों एवं पितरों की पूजा सम्पन्न करने पर मनुष्य इस लोक को जाता है। किन्तु कोई यहाँ अधिक काल तक नहीं रह पाता। देवताओं की गणना के अनुसार चन्द्रमा पर जीवन की अवधि दस हजार वर्ष है। देवताओं की काल गणना में एक दिन (१२ घंटे) इस लोक के छह मास के बराबर होते हैं। चन्द्रमा तक स्पुतनिक जैसे किसी भौतिक यान द्वारा नहीं ही पहुँचा जा

सकता, किन्तु पुण्यकर्म करने से भौतिक भोगों के प्रति आसक्त लोग वहाँ पहुँच सकते हैं। जब यज्ञ कर्मों का पुण्य समाप्त हो जाता है, तो चन्द्रलोक तक पहुँच जाने पर भी मनुष्य को पृथ्वी पर पुनः आना पड़ता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२१) में भी हुई है—*ते तां भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।*

यदा चाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः ।

तदा लोका लयं यान्ति त एते गृहमेधिनाम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; च—तथा; अहि-इन्द्र—सर्पों के राजा (शेषनाग) की; शय्यायाम्—शय्या पर; शेते—लेटा रहता है; अनन्त-आसनः—जिसका आसन अनन्त शेष है; हरिः—भगवान् हरि; तदा—तब; लोकाः—लोक; लयम्—प्रलय; यान्ति—जाते हैं; ते एते—वे ही; गृह-मेधिनाम्—गृहमेधियों के।

जब भगवान् हरि सर्पों की शय्या पर, जिसे अनन्त शेष कहते हैं, सोते हैं, तो भौतिकतावादी पुरुषों के सारे लोक, जिनमें चन्द्रमा जैसे स्वर्गलोक सम्मिलित हैं, विलीन हो जाते हैं।

तात्पर्य : भौतिकता के प्रति आसक्त लोग चन्द्रमा जैसे स्वर्गलोक तक पहुँचने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं। ऐसे कई स्वर्गलोक हैं, जिन्हें वे दीर्घकालिक आयु तथा इन्द्रियभोग की सामग्री प्राप्त करके अधिकाधिक सुख प्राप्त करने के उद्देश्य से चाहते हैं। किन्तु आसक्त व्यक्ति यह नहीं जानते कि यदि किसी को उच्चतम लोक—ब्रह्म लोक—मिल भी जाय तो विनाश वहाँ भी विद्यमान रहता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि भले ही कोई ब्रह्मलोक तक क्यों न चला जाय, किन्तु तो भी उसे वहाँ जन्म, मरण, रोग तथा जरा के कष्ट मिलेंगे। केवल भगवान् के धाम, वैकुण्ठलोक, पहुँचकर ही मनुष्य इस जगत में पुनः जन्म नहीं लेता। किन्तु 'गृहमेधी' या भौतिकतावादी व्यक्ति इस लाभ का उपयोग नहीं चाहते। वे तो निरन्तर एक शरीर से दूसरे में अथवा एक लोक से दूसरे लोक में देहान्तरण को ही वरीयता देते हैं। वे भगवान् के धाम में आनन्दपूर्ण ज्ञानमय शाश्वत जीवन नहीं चाहते।

प्रलय के दो प्रकार हैं। एक प्रलय ब्रह्मा की मृत्यु के समय होता है, उस समय समस्त स्वर्गों सहित सारी स्वर्गिक प्रणालियाँ जल में विलीन होकर गर्भोदक सागर में सर्पों की शय्या

पर लेटे हुए विष्णु के शरीर में प्रवेश करती हैं। दूसरा प्रलय ब्रह्मा के एक दिन के अन्त में घटित होता है, जिसमें सभी निम्न लोक विनष्ट हो जाते हैं। जब भगवान् ब्रह्मा इस रात्रि के बीतने पर जगते हैं, तो ये निम्नलोक पुनः उत्पन्न होते हैं। इस श्लोक से *भगवद्गीता* के इस कथन की पुष्टि होती है कि जो लोग देवों की पूजा करते हैं उनकी बुद्धि जाती रहती है। ये अल्पज्ञानी पुरुष यह नहीं जानते कि यदि वे स्वर्ग जाते भी हैं, तो प्रलय के समय वे स्वयं, देवतागण तथा उनके लोक विलीन हो जाएँगे। उन्हें इसकी सूचना नहीं रहती कि नित्य वरदान से पूर्ण जीवन प्राप्त किया जा सकता है।

ये स्वधर्मान्न दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे ।

निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धचेतसः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; स्व-धर्मान्—अपने-अपने वृत्तिपरक कर्तव्य; न—नहीं; दुह्यन्ति—लाभ उठाते हैं; धीराः—बुद्धिमान्; काम—इन्द्रियतृप्ति; अर्थ—आर्थिक विकास; हेतवे—के लिए; निःसङ्गाः—भौतिक आसक्ति से मुक्त; न्यस्त—परित्यक्त; कर्माणः—सकाम कर्म; प्रशान्ताः—सन्तुष्ट; शुद्ध-चेतसः—शुद्धीकृत चेतना का।

जो बुद्धिमान हैं और शुद्ध चेतना वाले हैं, वे कृष्णभक्ति में पूर्णतया सन्तुष्ट रहते हैं। वे प्रकृति के गुणों से मुक्त होकर वे इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म नहीं करते; अपितु वे अपने-अपने कर्मों में लगे रहते हैं और विधानानुसार कर्म करते हैं।

तात्पर्य : इस प्रकार के पुरुष का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण अर्जुन है। अर्जुन क्षत्रिय था और उसका धर्म युद्ध करना था। सामान्यतया राजा अपने राज्य के विस्तार के लिए युद्ध करते हैं और इन्द्रियतृप्ति के लिए उस पर राज्य करते हैं। जहाँ तक अर्जुन का प्रश्न है, उसने अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए युद्ध करने से इनकार कर दिया। उसने कहा कि यद्यपि स्वजनों से युद्ध करके वह साम्राज्य प्राप्त कर सकता है, किन्तु वह उनसे लड़ना नहीं चाहता। किन्तु जब कृष्ण ने आदेश दिया और जब वह *भगवद्गीता* के उपदेशों से आश्चस्त हो गया कि उसका धर्म कृष्ण को प्रसन्न करना है, तो वह युद्ध करने लगा। इस प्रकार उसने अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं, अपितु भगवान् के संतोष के लिए युद्ध किया।

जो लोग अपना निर्धारित कर्म इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं, अपितु भगवान् को प्रसन्न करने

के लिए करते हैं, वे *निःसङ्ग* कहलाते हैं अर्थात् वे प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त होते हैं। *न्यस्त कर्माणः* बताता है कि उनके कर्मों का फल भगवान् को प्रदान कर दिया जाता है। ऐसे लोग अपना-अपना कर्तव्य-निर्वाह करते प्रतीत होते हैं, किन्तु ऐसे कर्म निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए न होकर भगवान् के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। ऐसे भक्त *प्रशान्ताः* अर्थात् “परम सन्तुष्ट” कहलाते हैं। *शुद्ध चेतसः* का अर्थ है कृष्णभावनाभावित अर्थात् जिनकी चेतना शुद्ध हो चुकी है। चेतना शुद्ध न रहने पर मनुष्य अपने को ब्रह्माण्ड का स्वामी मानता है, किन्तु शुद्ध चेतना होने पर वह अपने को भगवान् का शाश्वत दास मानता है। अपने को भगवान् के शाश्वत दास के पद पर बिठाकर और निरन्तर उन्हीं के लिए काम करते हुए वह वास्तव में सन्तुष्ट हो जाता है। जब तक कोई निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करता है तब तक वह चिन्ता से पूर्ण रहता है। सामान्य चेतना तथा कृष्णचेतना (भक्ति) में यही अन्तर है।

निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः ।

स्वधर्माप्तेन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

निवृत्ति-धर्म—विरक्ति के लिए धार्मिक कार्यों में; निरता:—निरन्तर लगे हुए; निर्ममा:—स्वामित्व के ज्ञान बिना;
निरहङ्कृताः—अहंकाररहित; स्व-धर्म—अपने वृत्तिपरक कर्तव्य से; आप्तेन—सम्पन्न; सत्त्वेन—अच्छाई से;
परिशुद्धेन—पूर्णातः शुद्ध; चेतसा—चेतना से।

अपने कर्तव्य-निर्वाह, विरक्तभाव से तथा स्वामित्व की भावना से अथवा अहंकार से रहित होकर काम करने से मनुष्य पूर्ण शुद्ध चेतना के द्वारा अपनी स्वाभाविक स्थिति में आसीन होकर और इस प्रकार से भौतिक कर्तव्यों को करते हुए सरलता के साथ ईश्वर के धाम में प्रविष्ट हो सकता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *निवृत्ति-धर्म-निरताः* का अर्थ है “विरक्ति के लिए धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने में निरन्तर लगे रहना।” धार्मिक कार्य दो प्रकार के होते हैं। एक *प्रवृत्ति-धर्म* कहलाता है, जिसका अर्थ है उच्चतर लोकों तक जाने या आर्थिक सम्पन्नता के लिए *गृहमेधियों* द्वारा सम्पन्न धार्मिक कार्य, जिनका अन्तिम उद्देश्य इन्द्रियतृप्ति है। इस संसार में आया हुआ प्रत्येक व्यक्ति प्रभुता की भावना से युक्त रहता है। यह *प्रवृत्ति* कहलाती है। किन्तु विपरीत

धार्मिक कार्य, जिसे *निवृत्ति* कहते हैं, परमेश्वर के लिए कर्म करना है। कृष्ण की भक्ति में संलग्न रहकर मनुष्य न तो किसी स्वामित्व का दावा कर सकता है, न ही उसे अहंकार रहता है कि वह ईश्वर या स्वामी है। वह अपने को सदैव दास समझता है। यह चेतना को शुद्ध करने की विधि है। केवल शुद्ध चेतना से ईश्वर के धाम में प्रविष्ट हुआ जा सकता है। भौतिकतावादी व्यक्ति उच्च पद पाने पर भौतिक जगत के भीतर किसी भी लोक में प्रविष्ट हो सकते हैं, किन्तु ये सब बारम्बार विनष्ट होते रहते हैं।

सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम् ।

पराववेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सूर्य-द्वारेण—प्रकाश मार्ग से होकर; ते—वे; यान्ति—निकट जाते हैं; पुरुषम्—भगवान् के; विश्वतः—मुखम्—जिसका मुख सर्वत्र घूमता है; पर-अवर-ईशम्—आध्यात्मिक तथा भौतिक जगत् का स्वामी; प्रकृतिम्—भौतिक कारण; अस्य—संसार की; उत्पत्ति—प्राकट्य का; अन्त—प्रलय का; भावनम्—कारण।

ऐसे मुक्त पुरुष प्रकाशमान मार्ग से होकर भगवान् तक पहुँचते हैं, जो भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् का स्वामी है और इन जगत् का उत्पत्ति तथा अन्त का परम कारण है।

तात्पर्य : सूर्यद्वारेण शब्द का अर्थ है “प्रकाशमान पथ के द्वारा” अथवा सूर्यलोक से होकर। यह प्रकाशित मार्ग भक्ति है। वेदों में सलाह दी गई है कि अंधकार से होकर न जाए, सूर्यलोक से होकर जाए। यहाँ इसकी भी संस्तुति की गई है कि प्रकाशमान पथ से चलकर प्रकृति के गुणों के कल्मष से मुक्त हुआ जा सकता है; इसी मार्ग से होकर भगवान् के निवासस्थान में प्रवेश किया जा सकता है। *पुरुषं विश्वतोमुखम्* पद का अर्थ है श्रीभगवान्, जो परम पूर्ण हैं। परमेश्वर के अतिरिक्त सारे प्राणी अत्यन्त लघु हैं, भले ही हमारी गणना से वे बड़े लगें। हर कोई अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः वेदों में परमेश्वर को समस्त शाश्वतों में परम शाश्वत के रूप में कहा गया है। वे भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् का स्वामी हैं और संसार के परम कारण हैं। प्रकृति अवयव मात्र है, क्योंकि वस्तुतः उत्पत्ति तो उनकी शक्ति से होती है। माया भी उनकी शक्ति है। जिस प्रकार माता तथा पिता के संयोग से बालक जन्मता है उसी तरह भौतिक शक्ति

(माया) तथा भगवान् की चितवन भौतिक जगत की उत्पत्ति का कारण है। अतः सक्षम कारण पदार्थ नहीं, अपितु भगवान् स्वयं हैं।

द्विपरार्थावसाने यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते ।
तावदध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

द्वि-परार्थ—दो परार्थों के; अवसाने—अन्त में; यः—जो; प्रलयः—मृत्यु; ब्रह्मणः—भगवान् ब्रह्मा की; तु—लेकिन; ते—वे; तावत्—तब तक; अध्यासते—रहते हैं; लोकम्—लोक में; परस्य—परमेश्वर का; पर-चिन्तकाः—भगवान् का चिन्तन करते हुए।

भगवान् के हिरण्यगर्भ विस्तार के उपासक इस संसार में दो परार्थों के अन्त तक रहे आते हैं, जब ब्रह्मा की भी मृत्यु हो जाती है।

तात्पर्य : एक प्रलय तो ब्रह्मा का दिन पूरा होने पर होता है और दूसरा ब्रह्मा की आयु समाप्त होने पर। ब्रह्मा की मृत्यु दो परार्थ पूरा होने पर होती है। उस समय सारा ब्रह्माण्ड विलीन हो जाता है। जो लोग भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के पूर्ण अंश हिरण्यगर्भ के पूजक हैं, वे सीधे वैकुण्ठ में भगवान् के पास नहीं पहुँचते। वे इसी ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा के जीवन काल तक सत्यलोक या अन्य किसी उच्च लोक में रहे आते हैं। तब वे ब्रह्मा के साथ-साथ वैकुण्ठ को जाते हैं।

परस्य परचिन्तकाः का अर्थ है “सदैव भगवान् का चिन्तन करने वाले” या सदैव कृष्णभावनाभावित रहने वाले। जब हम कृष्ण का नाम लेते हैं, तो यह विष्णु तत्त्व की पूर्णकोटि को सूचित करता है। कृष्ण में तीन अवतार निहित हैं—महाविष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु तथा इसके साथ ही साथ सभी अवतारों का सम्मिलित रूप। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* में हुई है। *रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*—भगवान् कृष्ण अपने अंशों सहित—यथा राम, नृसिंह, वामन, मधुसूदन, विष्णु तथा नारायण सहित सदैव विराजमान हैं। जो **परस्य परचिन्तकाः** हैं, वे सीधे ईश्वर के धाम वैकुण्ठ लोक में प्रवेश करते हैं और यदि गर्भोदकशायी विष्णु के पूर्ण अंश के उपासक हैं, तो वे प्रलय तक इसी ब्रह्माण्ड में रहते हैं और तब वैकुण्ठ में जाते हैं।

क्ष्माभ्योऽनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थ-

भूतादिभिः परिवृतं प्रतिसञ्जिहीर्षुः ।

अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा

कालं पराख्यमनुभूय परः स्वयम्भूः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

क्ष्मा—पृथ्वी; अम्भः—जल; अनल—अग्नि; अनिल—वायु; वियत्—शून्य; मनः—मन; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अर्थ—इन्द्रियों के विषय; भूत—अहंकार; आदिभिः—इत्यादि से; परिवृतम्—आच्छादित; प्रतिसञ्जिहीर्षुः—संहार करने की इच्छा से; अव्याकृतम्—परिवर्तनहीन वैकुण्ठ; विशति—प्रवेश करता है; यर्हि—जिस समय; गुण-त्रय-आत्मा—तीन गुणों से युक्त; कालम्—काल; पर-आख्यम्—दो परार्थ; अनुभूय—अनुभव करके; परः—प्रमुख; स्वयम्भूः—भगवान् ब्रह्मा ।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति के निवास करने योग्य दो परार्थों के काल का अनुभव करके श्री ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड का, जो पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, अहंकार आदि के आवरणों से ढका हुआ है, संहार कर देते हैं और भगवान् के पास चले जाते हैं ।

तात्पर्य : इस श्लोक में अव्याकृतम् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । भगवद्गीता में सनातन शब्द का ठीक यही अर्थ दिया गया है । यह संसार व्याकृत अर्थात् परिवर्तनशील है और अन्त में विनष्ट हो जाता है, किन्तु इसके विलीन हो जाने के बाद भी आध्यात्मिक जगत अथवा सनातन धाम बचा रहता है । यह अव्याकृत कहलाता है, क्योंकि यह अपरिवर्तित रहा आता है और इसमें भगवान् निवास करते हैं । जब काल के प्रभाव से इस ब्रह्माण्ड पर शासन करने के बाद ब्रह्मा इसका संहार करके ईश्वर के धाम में प्रवेश करना चाहते हैं, तो अन्य लोग भी उन्हीं के साथ प्रवेश कर जाते हैं ।

एवं परेत्य भगवन्तमनुप्रविष्टा

ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः ।

तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं

ब्रह्म प्रधानमुपयान्त्यगताभिमानाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; परेत्य—दूर तक जाकर; भगवन्तम्—भगवान् ब्रह्मा; अनुप्रविष्टाः—प्रविष्ट; ये—जो; योगिनः—योगीजन; जित—वश में किये हुए; मरुत्—श्वास; मनसः विरागाः—विरक्त; तेन—ब्रह्मा से; एव—निस्सन्देह; साकम्—साथ; अमृतम्—आनन्द रूप; पुरुषम्—भगवान् को; पुराणम्—प्राचीनतम; ब्रह्म प्रधानम्—परब्रह्म; उपयान्ति—जाते हैं; अगत—न गये हुए; अभिमानाः—जिनका अहंकार ।

जो योगी प्राणायाम तथा मन-निग्रह द्वारा इस संसार से विरक्त हो जाते हैं, वे ब्रह्मलोक पहुँचते हैं, जो बहुत ही दूर है। वे अपना शरीर त्याग कर ब्रह्मा के शरीर में प्रविष्ट होते हैं, अतः जब ब्रह्मा को मोक्ष प्राप्त होता है और वे भगवान् के पास जाते हैं, जो परब्रह्म हैं, तो ऐसे योगी भी भगवद्धाम में प्रवेश करते हैं।

तात्पर्य : योगसिद्धि प्राप्त करने के बाद योगी ब्रह्मलोक या सत्यलोक पहुँच सकते हैं और अपना शरीर त्यागने के बाद वे ब्रह्मा के शरीर में प्रविष्ट करते हैं। चूँकि वे भगवान् के प्रत्यक्ष भक्त नहीं होते, अतः इन्हें सीधे मोक्ष नहीं मिलता। इन्हें ब्रह्मा के मोक्ष पाने तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है और ये ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो पाते हैं। यह स्पष्ट है कि जब तक जीव किसी अन्य देवता की उपासना करता है, तो उसकी चेतना उसी देवता में लीन रहती है, अतः वे न तो प्रत्यक्ष मोक्ष प्राप्त करते हैं अथवा भगवद्धाम में प्रवेश कर पाते हैं, न ही भगवान् के निराकार तेज में लीन हो पाते हैं। ऐसे योगी या देवता-उपासकों को पुनः सृष्टि होने पर फिर से जन्म लेना पड़ता है।

अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम् ।

श्रुतानुभावं शरणं ब्रज भावेन भामिनि ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; तम्—भगवान् को; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों के; हृत्-पद्मेषु—कमल हृदयों में; कृत-आलयम्—निवास करते हुए; श्रुत-अनुभावम्—जिनका यश आपने सुना; शरणम्—शरण में; ब्रज—जाओ; भावेन—भक्ति द्वारा; भामिनि—हे माता।

अतः हे माता, आप प्रत्यक्ष भक्ति द्वारा जन-जन के हृदय में स्थित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण करें।

तात्पर्य : कृष्णभक्ति से भगवान् का प्रत्यक्ष सम्पर्क हो सकता है और भगवान् के साथ प्रेमी, परमात्मा, पुत्र, मित्र या स्वामी रूप में उनसे सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। मनुष्य अनेक प्रकार से परमेश्वर के साथ दिव्य प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और यह भाव ही वास्तविक तादात्म्य है। किन्तु मायावादी चिन्तकों तथा वैष्णव चिन्तकों का तादात्म्य पृथक्-पृथक् होता है। ये दोनों ही परब्रह्म में लीन होना चाहते हैं, किन्तु वैष्णव अपनी सत्ता खोना

नहीं चाहते। वे प्रेमी, जनक, मित्र या दास के रूप में अपनी सत्ता (पहचान) बनाये रखना चाहते हैं।

दिव्य जगत में दास तथा स्वामी एक हैं। यह परम पद है। यद्यपि उनमें दास तथा स्वामी का सम्बन्ध रहता है, किन्तु सेव्य तथा सेवक दोनों एक ही पद पर रहते हैं। यही तादात्म्य है। भगवान् कपिल ने अपनी माता को उपदेश दिया कि उन्हें किसी परोक्ष विधि की आवश्यकता नहीं है। वे पहले से प्रत्यक्ष विधि को प्राप्त हैं, क्योंकि परमेश्वर ने उनके पुत्र के रूप में जन्म लिया है। वस्तुतः उन्हें और किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं रह गई थी, क्योंकि वे पहले ही सिद्ध अवस्था में थीं। कपिलदेव ने उन्हें उसी अवस्था में बने रहने की सलाह दी। अतः उन्होंने अपनी माता को *भामिनि* कहकर सम्बोधित किया जो सूचित करता है कि वे पहले ही अपने पुत्र रूप में भगवान् का चिन्तन कर रही थीं। अतः कपिलदेव देवहूति को सीधे कृष्णभावनामृत में भक्ति करने की सलाह देते हैं, क्योंकि इस चेतना के बिना माया के पाश से मुक्त नहीं हुआ जा सकता।

आद्यः स्थिरचराणां यो वेदगर्भः सहर्षिभिः ।
योगेश्वरैः कुमाराद्यैः सिद्धैर्योगप्रवर्तकैः ॥ १२ ॥
भेददृष्ट्याभिमानेन निःसङ्गेनापि कर्मणा ।
कर्तृत्वात्सगुणं ब्रह्म पुरुषं पुरुषर्षभम् ॥ १३ ॥
स संसृत्य पुनः काले कालेनेश्वरमूर्तिना ।
जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते ॥ १४ ॥
ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं च तेऽपि धर्मविनिर्मितम् ।
निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

आद्यः—स्रष्टा, ब्रह्मा; स्थिर-चराणाम्—जड़ तथा जंगम का; यः—जो; वेद-गर्भः—वेदगर्भ; सह—साथ; ऋषिभिः—ऋषियों के; योग-ईश्वरैः—महान् योगियों के साथ; कुमार-आद्यैः—कुमारगण तथा अन्य; सिद्धैः—सिद्ध पुरुषों के साथ; योग-प्रवर्तकैः—योग पद्धति के जन्मदाता; भेद-दृष्ट्या—स्वतन्त्र दृष्टि के कारण; अभिमानेन—गर्व से; निःसङ्गेन—निष्काम; अपि—यद्यपि; कर्मणा—कार्यों से; कर्तृत्वात्—कर्ता होने के भाव से; स-गुणम्—दैवी गुणों से युक्त; ब्रह्म—ब्रह्म; पुरुषम्—भगवान्; पुरुष-ऋषभम्—प्रथम पुरुष अवतार को; सः—वह; संसृत्य—प्राप्त करके; पुनः—फिर; काले—समय पर; कालेन—काल द्वारा; ईश्वर-मूर्तिना—भगवान् का रूप; जाते गुण-व्यतिकरे—जब गुणों की प्रतिक्रिया होती है; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; प्रजायते—उत्पन्न होता है; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; पारमेष्ठ्यम्—राजोचित; च—तथा; ते—ऋषिगण; अपि—भी; धर्म—अपने पुण्य कर्मों से; विनिर्मितम्—

उत्पन्न; निषेव्य—भोगा जाकर; पुनः—फिर; आयान्ति—लौटते हैं; गुण-व्यतिकरे सति—जब गुणों की प्रतिक्रिया होती है।

आद्यः—स्रष्टा, ब्रह्मा; स्थिर-चराणाम्—जड़ तथा जंगम का; यः—जो; वेद-गर्भः—वेदगर्भ; सह—साथ; ऋषिभिः—ऋषियों के; योग-ईश्वरैः—महान् योगियों के साथ; कुमार-आद्यैः—कुमारगण तथा अन्य; सिद्धैः—सिद्ध पुरुषों के साथ; योग-प्रवर्तकैः—योग पद्धति के जन्मदाता; भेद-दृष्ट्या—स्वतन्त्र दृष्टि के कारण; अभिमानेन—गर्व से; निःसङ्गेन—निष्काम; अपि—यद्यपि; कर्मणा—कार्यों से; कर्तृत्वात्—कर्ता होने के भाव से; स-गुणम्—दैवी गुणों से युक्त; ब्रह्म—ब्रह्म; पुरुषम्—भगवान्; पुरुष ऋषभम्—प्रथम पुरुष अवतार को; सः—वह; संसृत्य—प्राप्त करके; पुनः—फिर; काले—समय पर; कालेन—काल द्वारा; ईश्वर-मूर्तिना—भगवान् का रूप; जाते गुण-व्यतिकरे—जब गुणों की प्रतिक्रिया होती है; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; प्रजायते—उत्पन्न होता है; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; पारमेष्ठ्यम्—राजोचित; च—तथा; ते—ऋषिगण; अपि—भी; धर्म—अपने पुण्य कर्मों से; विनिर्मितम्—उत्पन्न; निषेव्य—भोगा जाकर; पुनः—फिर; आयान्ति—लौटते हैं; गुण-व्यतिकरे सति—जब गुणों की प्रतिक्रिया होती है।

हे माता, भले ही कोई किसी विशेष स्वार्थ से भगवान् की पूजा करे, किन्तु ब्रह्मा जैसे देवता, सनत्कुमार जैसे ऋषि-मुनि तथा मरीचि जैसे महामुनि सृष्टि के समय इस जगत में पुनः लौट आते हैं। जब प्रकृति के तीनों गुणों की अन्तःक्रिया प्रारम्भ होती है, तो काल के प्रभाव से इस दृश्य जगत के स्रष्टा तथा वैदिक ज्ञान से पूर्ण ब्रह्मा एवं आध्यात्मिक मार्ग तथा योग-पद्धति के प्रवर्तक बड़े-बड़े ऋषि वापस आ जाते हैं। वे अपने निष्काम कर्मों से मुक्त तो हो जाते हैं और पुरुष के प्रथम अवतार (आदि पुरुष) को प्राप्त होते हैं, किन्तु सृष्टि के समय वे पुनः अपने पहले के ही रूपों तथा पदों में वापस आ जाते हैं।

तात्पर्य : यह सभी जानते हैं कि ब्रह्मा को मुक्ति मिलती है, किन्तु वे भक्तों को मुक्ति नहीं दिला सकते। ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवता किसी जीव को मुक्ति नहीं दे सकते। जैसाकि भगवद्गीता में पुष्टि हुई है, केवल वे ही माया के पाश से मुक्त होते हैं जिन्होंने कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है। यहाँ ब्रह्मा को आद्यः स्थिर-चराणाम् कहा गया है। वे मूल, प्रथम उत्पन्न जीव थे और वे अपने जन्म के बाद सम्पूर्ण दृश्य जगत की उत्पत्ति करने वाले हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में परमेश्वर ने उन्हें भलीभाँति शिक्षा दी थी। यहाँ पर उन्हें वेदगर्भ कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि वे वेदों के पूर्ण उद्देश्य को जानते हैं। उनके साथ मरीचि, कश्यप जैसे महापुरुष तथा सप्तर्षि, योगी, कुमार तथा अन्य अध्यात्म में बड़े-चढ़े जीव रहते हैं, किन्तु उनका ईश्वर से पृथक् निजी स्वार्थ रहता है। भेद-दृष्ट्या का अर्थ है कि ब्रह्माजी कभी-कभी

सोचते हैं कि वे परमेश्वर से स्वतन्त्र हैं या कि वे अपने को तीन स्वतन्त्र अवतारों में से एक मानते हैं। ब्रह्मा को सृष्टि करने, विष्णु को पालन करने और रुद्र या शिवजी को संहार करने का कार्य सौंपा गया है। ये तीनों परमेश्वर के अवतार समझे जाते हैं, जो तीन भिन्न गुणों के अधिष्ठाता हैं, किन्तु इन तीनों में से कोई भी भगवान् से स्वतन्त्र नहीं है। यहाँ पर इसीलिए भेद-दृष्ट्या शब्द आया है, क्योंकि ब्रह्माजी कुछ-कुछ सोचते हैं कि वे रुद्र के समान स्वतन्त्र हैं। कभी-कभी ब्रह्माजी अपने को स्वतन्त्र मानते हैं और उनके उपासक भी ब्रह्माजी को स्वतन्त्र मानते हैं। इसीलिए इस जगत के संहार के बाद, जब तीनों गुणों की पारस्परिक क्रिया से पुनः सृष्टि होती है, तो ब्रह्मा वापस आते हैं। यद्यपि ब्रह्माजी प्रथम पुरुषावतार महाविष्णु के पास पहुँच जाते हैं, किन्तु वे वैकुण्ठ में ठहर नहीं सकते।

उनके वापस आने की विशेष महत्ता दृष्टव्य है। ब्रह्मा, महान् ऋषिगण तथा योग के महान् स्वामी (शिव) सामान्य जीव नहीं हैं, वे सभी अत्यन्त शक्तिमान हैं और समस्त योग-सिद्धियों से पूर्ण हैं। फिर भी वे परब्रह्म के साथ एकाकार होना चाहते हैं, अतः उन्हें वापस आना पड़ता है। *श्रीमद्भागवत* में यह स्वीकार किया गया है कि जब तक मनुष्य अपने को भगवान् के समान सोचता है तब तक वह पूर्णतया शुद्ध या ज्ञेय नहीं रहता। प्रलय के बाद ऐसे लोग प्रथम पुरुष अवतार महाविष्णु के पास तक जाकर भी पुनः इस संसार में वापस आते हैं।

निर्विशेषवादियों का यह सोचना उनका घोर पतन है कि परमेश्वर भौतिक शरीर के भीतर प्रकट होते हैं, अतः परमेश्वर के स्वरूप-चिन्तन की कोई आवश्यकता नहीं है, अपितु निराकार का चिन्तन करना चाहिए। इसी भूल के कारण बड़े से बड़े योगी या अध्यात्मवादी भी पुनः सृष्टि होने पर वापस आते हैं। निर्विशेषवादियों एवं अद्वैतवादियों के अतिरिक्त सभी जीव पूर्ण कृष्णचेतना में रहकर भक्ति करते हैं और भगवान् के लिए दिव्य प्रेमा-भक्ति उत्पन्न करके मुक्त हो जाते हैं। ऐसी भक्ति परमेश्वर को स्वामी, सखा, पुत्र तथा प्रेमी के रूप में सोचने पर क्रमशः उत्पन्न होती है। ऐसे अन्तर तो सदैव उपस्थित ही रहेंगे।

ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः ।

कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; तु—लेकिन; इह—इस संसार में; आसक्त—अनुरक्त; मनसः—जिनके मन; कर्मसु—कर्मों में; श्रद्धया—श्रद्धा से; अन्विताः—युक्त; कुर्वन्ति—करते हैं; अप्रतिषिद्धानि—फल के प्रति आसक्ति सहित, काम्य; नित्यानि—नियत कर्म; अपि—निश्चय ही; च—तथा; कृत्स्नशः—बारम्बार ।

जो लोग इस संसार के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं, वे अपने नियत कर्मों को बड़े ही ढंग से तथा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सम्पन्न करते हैं। वे ऐसे नित्यकर्मों को कर्मफल की आशा से करते हैं।

तात्पर्य : भागवत के इस श्लोक में तथा अगले छह श्लोकों में अत्यधिक आसक्त लोगों की आलोचना हुई है। शास्त्रों का आदेश है कि जो भौतिक सुखों को भोगने में अत्यधिक अनुरक्त होते हैं उन्हें इनका परित्याग करके कुछ अनुष्ठान करने होते हैं। उन्हें स्वर्ग पहुँचने के लिए दैनिक जीवन में कुछ विधि-विधानों का पालन करना होता है। इस श्लोक में कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। जो लोग इस भावना से देवताओं की पूजा करते हैं कि हर देवता पृथक् ईश्वर है वे कभी भी वैकुण्ठ नहीं जा पाते, उन लोगों की बात तो दूर रही जो अपनी भौतिक दशा सुधारने के लिए केवल कर्म करते हैं।

रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः ।

पितृन् यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

रजसा—रजोगुण द्वारा; कुण्ठ—चिन्ताओं से पूर्ण; मनसः—मन; काम-आत्मानः—इन्द्रियतृप्ति की इच्छा करते हुए; अजित—अनियन्त्रित; इन्द्रियाः—इन्द्रियाँ; पितृन्—पूर्वजों, पितरगणों; यजन्ति—पूजा करते हैं; अनुदिनम्—प्रतिदिन; गृहेषु—घरेलू जीवन में; अभिरत—लगे हुए; आशयाः—मन ।

ऐसे लोग, रजोगुण से प्रेरित होकर चिन्ताओं से व्याप्त रहते हैं और इन्द्रियों को वश में न कर सकने के कारण सदैव इन्द्रियतृप्ति की कामना करते रहते हैं। वे पितरों को पूजते हैं और अपने परिवार, सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन की आर्थिक स्थिति सुधारने में रात-दिन लगे रहते हैं।

त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः ।

कथायां कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

त्रै-वर्गिका:—तीन उन्नतिकारी विधियों में रुचि रखने वाले; ते—वे; पुरुषा:—व्यक्ति; विमुखा:—रुचि न रखने वाले; हरि-मेधस:—भगवान् हरि की; कथायाम्—लीलाओं में; कथनीय—कीर्तन करने योग्य; ऊरु-विक्रमस्य—जिनका सर्वोत्तम विक्रम (शौर्य); मधु-द्विष:—मधु असुर के वध करने वाले।

ऐसे लोग त्रैवर्गिक कहलाते हैं, क्योंकि वे तीन उन्नतिकारी विधियों—पुरुषार्थों—में रुचि लेते हैं। वे उन भगवान् से विमुख हो जाते हैं, जो बद्धजीवों को विश्राम प्रदान करने वाले हैं। वे भगवान् की उन लीलाओं में कोई अभिरुचि नहीं दिखाते, जो भगवान् के दिव्य विक्रम के कारण श्रवण करने योग्य हैं।

तात्पर्य : वैदिक विचारधारा के अनुसार चार उन्नतिकारी सिद्धान्त (पुरुषार्थ) हैं जिनके नाम हैं धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। जो लोग भौतिक सुख में रुचि रखते हैं, वे नियत कर्म करते रहते हैं। वे तीन उन्नतिकारी विधियों—धर्म, अर्थ तथा काम में रुचि रखते हैं। अपनी आर्थिक स्थिति सुधार कर वे भौतिक जीवन का आनन्द उठा सकते हैं। फलतः भौतिकतावादी व्यक्ति केवल उन उन्नतिकारी विधियों में रुचि रखते हैं, जिन्हें त्रैवर्गिक कहा गया है। त्रै का अर्थ है तीन और वर्गिक का अर्थ है “उन्नतिकारी विधियाँ।” ऐसे पुरुष कभी भी भगवान् के प्रति आसक्त नहीं होते, अपितु वे उनके विरुद्ध रहते हैं।

यहाँ पर भगवान् को हरि-मेधः कहा गया है, जिसका अर्थ है “जन्म तथा मरण के चक्र से उद्धार करने वाला।” भौतिकतावादी व्यक्ति कभी भी भगवान् की आश्चर्यमयी लीलाओं को सुनने के प्रति कोई उत्सुकता नहीं दिखाते। वे इन्हें कपोलकल्पित कहानियाँ और भगवान् को भौतिक पुरुष मानते हैं। वे भक्ति या कृष्णचेतना में अग्रसर होने के योग्य नहीं होते। ऐसे लोग समाचारपत्रों में छपी कहानियों, उपन्यासों तथा काल्पनिक नाटकों में रुचि दिखाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के वास्तविक कार्यकलाप, जैसे कि भगवान् के कुरुक्षेत्र के कार्यकलाप अथवा पाण्डवों के कार्यकलाप, भगवान् की वृन्दावन या द्वारका की लीलाओं का वर्णन भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत् में हुआ है, जो कि भगवान् की लीलाओं के वर्णन से परिपूर्ण हैं। किन्तु भौतिकतावादी पुरुष संसार में अपने पद को ऊपर उठाने में लगे रहते हैं और भगवान् के ऐसे

कार्यकलापों में कोई रुचि नहीं लेते। वे किसी महान् राजनीतिज्ञ या इस संसार के किसी परम धनवान व्यक्ति के कार्यकलापों में रुचि ले सकते हैं, किन्तु परमेश्वर के दिव्य कार्यकलापों में हरगिज नहीं।

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम् ।

हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विद्भुजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; दैवेन—भगवान् की आज्ञा से; विहताः—निन्दित; ये—जो; च—भी; अच्युत—अमोघ भगवान् की; कथा—कहानियाँ; सुधाम्—अमृत; हित्वा—त्याग कर; शृण्वन्ति—सुनते हैं; असत्-गाथाः—भौतिकतावादी पुरुषों की कहानियाँ; पुरीषम्—मल; इव—सदृश; विद्-भुजः—विष्ठाभोजी (सूकर)।

ऐसे व्यक्ति भगवान् के परम आदेशानुसार निन्दित होते हैं। चूँकि वे भगवान् के कार्यकलाप रूपी अमृत से विमुख रहते हैं, अतः उनकी तुलना विष्ठाभोजी सूकरों से की गई है। वे भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को न सुनकर भौतिकतावादी पुरुषों की कुत्सित कथाएँ सुनते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के कार्यकलापों को सुनने का इच्छुक रहता है चाहे वह राजनीतिज्ञ हो, धनवान हो या उपन्योसों में वर्णित काल्पनिक पात्र हो। ऐसा तमाम व्यर्थ साहित्य, कहानियाँ तथा दर्शन की पुस्तकें हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसा साहित्य पढ़ने में अधिक रुचि लेते हैं, किन्तु जब उनके सामने *भगवद्गीता*, *श्रीमद्भागवत*, *विष्णु पुराण* जैसे ज्ञानग्रंथ तथा विश्व के अन्य शास्त्र यथा बाइबिल या कुरान आते हैं, तो वे उनमें रुचि नहीं दिखाते। ऐसे व्यक्ति भगवान् के आदेशों (शास्त्रों) द्वारा उसी प्रकार से निन्दित होते हैं जिस तरह सूकर होता है। सूकर मल खाने में रुचि दिखाता है। यदि उसे घी अथवा दूध का बना कोई उत्तम पकवान दे दिया जाय तो वह उसे पसंद नहीं करता, वह दुर्गन्धमय विष्ठा (मल) को ही सबसे स्वादिष्ट समझता है। भौतिकतावादी मनुष्य इसीलिए निन्द्य माने जाते हैं, क्योंकि वे दिव्य कार्यकलापों में रुचि न रखकर नारकीय कार्यों में रुचि प्रदर्शित करते हैं। भगवान् के कार्यकलापों का सन्देश अमृत है, इसके अतिरिक्त कोई भी जानकारी वास्तव में नारकीय है।

दक्षिणेन पथार्यम्णाः पितृलोकं व्रजन्ति ते ।

प्रजामनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दक्षिणेन—दक्षिणी; पथा—मार्ग से; अर्यम्णाः—सूर्य के; पितृ-लोकम्—पितृ लोक को; व्रजन्ति—जाते हैं; ते—वे; प्रजाम्—अपने परिवार; अनु—के साथ; प्रजायन्ते—जन्म लेते हैं; श्मशान—मरघट; अन्त—अन्त में; क्रिया—सकाम कर्म; कृतः—करते हुए।

ऐसे भौतिकतावादी व्यक्तियों को सूर्य के दक्षिण मार्ग से पितृलोक जाने दिया जाता है, किन्तु वे इस लोक में पुनः आकर अपने-अपने परिवारों में जन्म लेते हैं और जन्म से लेकर जीवन के अन्त तक पुनः उसी तरह कर्म करते हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता (९.२१) में कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति उच्च लोकों को जाते हैं। जब उनके जीवन भर के कर्म चुक जाते हैं, तो वे इस लोक में वापस आ जाते हैं। इस तरह वे ऊपर-नीचे आते-जाते रहते हैं। जो उच्च लोक को गये थे वे उसी परिवार में लौटते हैं जिनसे वे परम अनुरक्त थे; वे जन्म लेते हैं और पुनः उनके कर्म आजीवन चलते रहते हैं। जन्म से मृत्यु तक अनेक अनुष्ठानों का विधान है और ऐसे लोग इन अनुष्ठानों के प्रति अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं।

ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं सति ।

पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; ते—वे; क्षीण—चुक जाने पर; सु-कृताः—पुण्य कर्मों के फल; पुनः—फिर; लोकम् इमम्—इस लोक में; सति—हे सती माता; पतन्ति—गिरते हैं; विवशाः—असहाय; देवैः—दैववश; सद्यः—अचानक; विभ्रंशित—गिराये जाकर; उदयाः—उनकी सम्पन्नता।

जब उनके पुण्यकर्मों का फल चुक जाता है, तो वे दैववश नीचे गिरते हैं और पुनः इस लोक में आ जाते हैं जिस प्रकार किसी व्यक्ति को ऊँचे उठाकर सहसा नीचे गिरा दिया जाये।

तात्पर्य : कभी-कभी देखा जाता है कि सरकारी नौकरी में उच्च पद आसीन व्यक्ति अचानक ही नीचे आ जाता है, उसे कोई बचा नहीं पाता। इसी प्रकार सुखोपभोग का समय बीत जाने पर, मूर्ख व्यक्ति जो उच्चलोकों में अध्यक्ष पद तक उठने के इच्छुक रहते हैं, नीचे

गिरकर इस लोक में आते हैं। एक भक्त तथा सकाम कर्म में आसक्त एक सामान्य व्यक्ति के उच्च पद में यह अन्तर होता है कि वैकुण्ठ गया हुआ भक्त कभी नीचे नहीं गिरता जबकि सामान्य व्यक्ति गिरता है, भले ही वह उच्चतम लोक, ब्रह्मलोक, को ही क्यों न प्राप्त हो। *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है (*आब्रह्म भुवनाल्लोकाः*) कि चाहे वह उच्चलोक को ही प्राप्त क्यों न हो उसे पुनः नीचे आना होता है। किन्तु *भगवद्गीता* (८.१६) में ही कृष्ण द्वारा पुष्टि की गई है कि *मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते*—हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त करता है, वह कभी इस संसार के बद्ध जीवन में वापस नहीं आता।

तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम् ।

तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; त्वम्—तुम (देवहूति); सर्व-भावेन—प्रेमानुभूति में; भजस्व—पूजा करो; परमेष्ठिनम्—भगवान् को; तत्-गुण—भगवान् के गुण; आश्रयया—से सम्बन्धित; भक्त्या—भक्ति से; भजनीय—पूज्य; पद-अम्बुजम्—जिनके चरणकमल।

अतः हे माता, मैं आपको सलाह देता हूँ कि आप भगवान् की शरण ग्रहण करें जिनके चरणकमल पूजनीय हैं। इसे आप समस्त भक्ति तथा प्रेम से स्वीकार करें, क्योंकि इस तरह से आप दिव्य भक्ति को प्राप्त हो सकेंगी।

तात्पर्य : *परमेष्ठिनम्* शब्द का प्रयोग कभी-कभी ब्रह्मा के लिए किया जाता है। *परमेष्ठी* का अर्थ है 'परम पुरुष'। जिस तरह इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा ही परम पुरुष हैं उसी तरह वैकुण्ठ में कृष्ण परम पुरुष हैं। भगवान् कपिल देव अपनी माता को सलाह देते हैं कि वे भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण में जाएँ, क्योंकि यही श्रेयकर है। यहाँ ब्रह्मा तथा शिव जैसे उच्चतम पदों में आसीन देवताओं की शरण ग्रहण करने की सलाह नहीं दी गई। मनुष्य को भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

सर्वभावेन का तात्पर्य है "सर्व प्रेमानुभूति में।" ईश्वर का शुद्ध प्रेम प्राप्त करने के पूर्व ऊपर उठने की प्रारम्भिक अवस्था *भाव* है। *भगवद्गीता* का वचन है—*बुधा भावसमन्विताः*—जिसने *भाव* अवस्था प्राप्त कर ली है, वह भगवान् कृष्ण के चरणकमलों को पूजनीय स्वीकार

कर सकता है। यहाँ पर भगवान् कपिल ने अपनी माता को यही उपदेश दिया है। इस श्लोक में *तद्-गुणाश्रयया भक्त्या* पद भी महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह है कि कृष्ण की भक्ति सम्पन्न करना दिव्य कर्म है, यह कोई भौतिक कर्म नहीं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*ब्रह्मभूयाय कल्पते*—जो भक्ति में लगे हुए हैं, वे तुरन्त दिव्य धाम को प्राप्त होते हैं।

मनुष्य के लिए जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त करने के लिए एकमात्र साधन पूर्ण कृष्णचेतना में भक्ति करना है। भगवान् कपिल ने यहाँ पर अपनी माता को इसी का उपदेश दिया है। अतः भक्ति समस्त गुणों के प्रभावों से मुक्त है अर्थात् 'निर्गुण' है। यद्यपि भक्ति सम्पन्न करना भौतिक कार्य—सा प्रतीत होता है, किन्तु यह कभी 'सगुण' नहीं है अर्थात् भौतिक गुणों से दूषित नहीं होता। *तद्गुणाश्रया* का अर्थ है कि भगवान् कृष्ण के दिव्य गुण इतने महान् हैं कि मनुष्य को अन्य कार्यों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। भक्तों के प्रति उनका व्यवहार इतना प्रशंसनीय होता है कि उन्हें किसी दूसरी पूजा की ओर मन को मोड़ना नहीं पड़ता। कहा जाता है कि पूतना नामक राक्षसी कृष्ण को विष देकर मारने आई थी, किन्तु कृष्ण इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उसका स्तन-पान करके अपनी माता के समान पद प्रदान कर दिया। अतः भक्तगण प्रार्थना करते हैं कि जब कृष्ण को मारने की इच्छा से आयी हुई पूतना इतना उच्च पद प्राप्त कर सकती है, तो फिर कृष्ण को छोड़कर अन्य किसी की पूजा से क्या लाभ? धार्मिक कार्य दो प्रकार के होते हैं—एक तो भौतिक विकास के लिए और दूसरे आध्यात्मिक विकास के लिए। कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने से—भौतिक तथा आध्यात्मिक—दोनों प्रकार की सम्पन्नता प्राप्त हो जाती है। तो फिर कोई अन्य देवताओं के पास क्यों जाएँ?

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।

जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवे—कृष्ण के प्रति; भगवति—भगवान्; भक्ति-योगः—भक्ति; प्रयोजितः—की गयी; जनयति—उत्पन्न करती है; आशु—तुरन्त; वैराग्यम्—विरक्ति; ज्ञानम्—ज्ञान; यत्—जो; ब्रह्म-दर्शनम्—आत्म-साक्षात्कार।

कृष्णचेतना में लगने और भक्ति को कृष्ण में लगाने से ज्ञान, विरक्ति तथा आत्म-साक्षात्कार में प्रगति करना सम्भव है।

तात्पर्य : अल्पज्ञ कहते हैं कि भक्तियोग उन लोगों के लिए है, जो दिव्य ज्ञान तथा वैराग्य में अग्रसर नहीं हो पाए हैं। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि जो समग्र कृष्णचेतना से भक्ति में लगा रहता है उसे न तो वैराग्य के लिए अलग से प्रयत्न करना पड़ता है और न दिव्य ज्ञान जागृत होने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। कहा जाता है, जो व्यक्ति अविचल भाव से भगवान् की भक्ति में लगा रहता है उसमें स्वतः देवताओं के गुण आ जाते हैं। कोई यह नहीं खोज कर सकता है कि ये गुण भक्तों में कैसे आते हैं, किन्तु होता यही है। ऐसा एक उदाहरण है। एक शिकारी को पशुओं को मारने में बड़ा मजा आता था, किन्तु भक्त हो जाने पर वह एक चींटी भी मारने को तैयार न था। ऐसा होता है भक्त का गुण।

जो लोग दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक हैं उन्हें चाहिए कि समय खोये बिना विशुद्ध भक्ति में लग जाँय। परम सत्य विषयक ज्ञान के बारे में किसी निश्चित मत तक पहुँचने में इस श्लोक में आया हुआ *ब्रह्म-दर्शनम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द का अर्थ है अध्यात्म का अनुभव या ज्ञान। वासुदेव की सेवा करने वाला ही ब्रह्म को समझ सकता है। यदि ब्रह्म निराकार है, तो *दर्शनम्* अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। *दर्शनम्* तो भगवान् वासुदेव के देखने को बताता है। जब तक देखने वाला तथा देखा जाने वाला (दर्शनीय) व्यक्ति न हो तब तक दर्शनम् नहीं हो सकता। *ब्रह्मदर्शनम्* का अर्थ है कि ज्योंही मनुष्य भगवान् को देखता है उसे तुरन्त निराकार ब्रह्म का अनुभव हो जाता है। भक्त को ब्रह्म की प्रकृति जानने के लिए अलग से प्रयास करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से भी होती है। *ब्रह्मभूयाय कल्पते*—भक्त तुरन्त परम सत्य में स्वरूपसिद्ध हो जाता है।

यदास्य चित्तमर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः ।
न विगृह्णाति वैषम्यं प्रियमप्रियमित्युत ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अस्य—भक्त का; चित्तम्—मन; अर्थेषु—विषयों में; समेषु—सम; इन्द्रिय-वृत्तिभिः—इन्द्रियों की क्रियाओं से; न—नहीं; विगृह्णाति—देखता है; वैषम्यम्—अन्तर; प्रियम्—स्वीकार्य; अप्रियम्—अस्वीकार्य; इति—इस प्रकार; उत—निश्चय ही।

उच्च भक्त का मन इन्द्रिय-वृत्तियों में समदर्शी हो जाता है और वह प्रिय तथा अप्रिय से परे हो जाता है।

तात्पर्य : दिव्य ज्ञान तथा भौतिक आकर्षण से वैराग्य में होने वाली उन्नति की महत्ता अत्यन्त सिद्ध भक्त के व्यक्तित्व में प्रकट होती है। उसके लिए न कुछ स्वीकार्य होती है न अस्वीकार्य, क्योंकि वह अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी नहीं करता। वह जो कुछ करता है, जो कुछ सोचता है, वह सब भगवान् को प्रसन्न करने के लिए होता है। चाहे भौतिक जगत हो या आध्यात्मिक जगत, उसका समदर्शी चित्त पूर्णतः प्रकट हो जाता है। वह समझ सकता है कि इस संसार में कुछ भी अच्छा नहीं है, प्रकृति द्वारा दूषित होने से सब कुछ बुरा है। अच्छा तथा बुरा, नैतिक तथा अनैतिक के विषय में भौतिकतवादी के निष्कर्ष केवल मनोकल्पना या भावुकता होते हैं। वास्तव में इस संसार में कुछ भी अच्छा नहीं है। आध्यात्मिक जगत में सब कुछ अच्छा है। आध्यात्मिक गुणों में उन्माद नहीं रहता। चूँकि भक्त हर वस्तु को आध्यात्मिक दृष्टि से देखता है, अतः वह समदर्शी होता है। दिव्य पद तक उठने का यही लक्षण है। वह स्वतः वैराग्य, फिर ज्ञान और तब दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि उच्च भक्त अपने को भगवान् के दिव्य गुणों से जोड़ लेता है और इस तरह गुणात्मक रूप से वह भगवान् से एकरूप हो जाता है।

स तदैवात्मनात्मानं निःसङ्गं समदर्शनम् ।
हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; तदा—तब; एव—निश्चय ही; आत्मना—अपनी दिव्य बुद्धि से; आत्मानम्—अपने आपको; निःसङ्गम्—भौतिक आसक्ति से रहित; सम-दर्शनम्—दृष्टि में समभाव; हेय—त्याज्य; उपादेय—ग्राह्य; रहितम्—विहीन; आरूढम्—आसीन; पदम्—दिव्य पद पर; ईक्षते—देखता है।

अपनी दिव्य बुद्धि के कारण शुद्ध भक्त समदर्शी होता है और अपने आपको पदार्थ के कल्मष से रहित देखता है। वह किसी वस्तु को श्रेष्ठ या निम्न नहीं मानता और परम

पुरुष के गुणों में समान होने के कारण अपने आपको परम पद पर आरूढ़ अनुभव करता है।

तात्पर्य : आसक्ति से अप्रिय का भाव जागरित होता है। भक्त की किसी वस्तु के प्रति व्यक्तिगत आसक्ति नहीं होती अतः उसके लिए प्रिय या अप्रिय का प्रश्न नहीं उठता। भगवान् की सेवा के लिए वह कुछ भी कर सकता है, भले ही वह उसके लिए अप्रिय हो। वस्तुतः, वह स्वार्थ से पूर्णतया मुक्त रहता है और इस प्रकार भगवान् को जो भी प्रिय हो उसे भी प्रिय होता है। उदाहरणार्थ, पहले अर्जुन को युद्ध करना स्वीकार्य न था, किन्तु जब उसने समझ लिया कि युद्ध भगवान् को प्रिय है, तो उसने युद्ध करना स्वीकार कर लिया। शुद्ध भक्त की यही स्थिति है। उसे निजी स्वार्थ के लिए कुछ भी प्रिय या अप्रिय नहीं है, सब कुछ भगवान् के लिए किया जाता है, अतः भक्त आसक्ति तथा वैराग्य से मुक्त होता है। यह समभाव की दिव्य स्थिति है। शुद्ध भक्त परमेश्वर के आनन्द में जीवन का सुख भोगता है।

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।

दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—ज्ञान; मात्रम्—केवल; परम्—दिव्य; ब्रह्म—ब्रह्म; परम-आत्मा—परमात्मा; ईश्वरः—ईश्वर, नियामक;
पुमान्—परमात्मा; दृशि-आदिभिः—दार्शनिक खोज तथा अन्य विधियों से; पृथक् भावैः—ज्ञान की विविध विधियों के अनुसार; भगवान्—श्रीभगवान्; एकः—अकेला; ईयते—अनुभव किया जाता है।

केवल भगवान् ही पूर्ण दिव्य ज्ञान हैं, किन्तु समझने की भिन्न-भिन्न विधियों के अनुसार वे या तो निर्गुण ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् या पुरुष अवतार के रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ दृश्य-आदिभिः शब्द महत्त्वपूर्ण है। जीव गोस्वामी के अनुसार दृशि का अर्थ ज्ञान या दार्शनिक खोज है। विभिन्न विचारधाराओं के अन्तर्गत दार्शनिक अनुसंधान की अनेकानेक विधियों द्वारा यथा ज्ञानयोग विधि से वही भगवान् अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् निराकार ब्रह्म समझा जाता है। इसी प्रकार अष्टांग योग पद्धति से वही भगवान् परमात्मा प्रतीत होता है। किन्तु विशुद्ध कृष्णचेतना अथवा ज्ञान की विशुद्ध स्थिति में, जब कोई परम सत्य को

जानने का प्रयास करता है, तो वही भगवान् उसे परम पुरुष प्रतीत होता है। केवल ज्ञान के आधार पर अध्यात्म समझा जाता है। यहाँ पर प्रयुक्त *परमात्मेश्वरः पुमान्*—ये सभी शब्द दिव्य हैं और वे परमात्मा को ही बताने वाले हैं। परमात्मा को पुरुष भी कहा जाता है, किन्तु *भगवान्* शब्द से सीधे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का बोध होता है, जो श्री, यश, शक्ति, सौन्दर्य, ज्ञान तथा वैराग्य नामक षडैश्वर्यों से पूर्ण हैं। वे ही विभिन्न परव्योमों (वैकुण्ठों) में परमेश्वर हैं। *परमात्मा*, *ईश्वर* और *पुमान्* के विविध वर्णन यह बताते हैं कि परमेश्वर के अनन्त विस्तार हैं।

अन्ततः भगवान् को जानने के लिए मनुष्य को भक्तियोग अपनाना होता है। ज्ञानयोग या ध्यानयोग सम्पन्न करके अन्ततः भक्तियोग पद तक पहुँचना होता है और तभी *परमात्मा*, *ईश्वर*, *पुमान्* आदि को ठीक से समझा जा सकता है। *श्रीमद्भगवत* के द्वितीय स्कंध में संस्तुति की गई है कि मनुष्य चाहे भक्त हो या कर्मयोगी या मुक्ति का इच्छुक, यदि वह बुद्धिमान है, तो उसे गम्भीरतापूर्वक भक्ति में लग जाना चाहिए। यह भी बताया गया है कि सकाम कर्मों से जो भी इच्छित फल प्राप्त होता है चाहे वह उच्चलोक जाने की इच्छा ही क्यों न हो, वह सब केवल भक्ति करने से प्राप्त हो जाता है। चूँकि परमेश्वर छह ऐश्वर्यों से युक्त हैं, अतः वे अपने उपासक को इनमें से किसी का भी वर दे सकते हैं।

एक ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् भिन्न-भिन्न चिन्तकों के समक्ष 'परम पुरुष', 'निराकार ब्रह्म' या 'परमात्मा' के रूप में प्रकट होते हैं। निर्विशेषवादी निराकार ब्रह्म में लीन होते हैं, किन्तु निराकार ब्रह्म की उपासना से ऐसा नहीं होता। यदि कोई भक्ति करे और साथ ही परमेश्वर में लीन होना चाहे तो ऐसा कर सकता है। यदि कोई ब्रह्म में लीन होना चाहता है, तो उसे भक्ति करनी होगी।

भक्त तो परमेश्वर को साक्षात् देख सकता है, किन्तु 'ज्ञानी' तथा 'योगी' ऐसा नहीं कर पाते। वे भगवान् के पार्षद पद तक नहीं उठ पाते। शास्त्रों में ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जहाँ ज्ञान के अनुशीलन या निराकार ब्रह्म की उपासना से कोई भगवान् का निजी पार्षद बना हो। न ही योग के सिद्धान्तों से कोई भगवान् का पार्षद बन सकता है। निराकार ब्रह्म को

अदृश्य कहा जाता है, क्योंकि ब्रह्मज्योति का निराकार तेज भगवान् के मुख को आच्छादित किये रहता है। कुछ योगी चतुर्भुज विष्णु को हृदय में आसीन देखते हैं, किन्तु यहाँ भी भगवान् अदृश्य रहते हैं। भगवान् केवल भक्तों को दृश्य हैं। यहाँ पर *दृश्य-आदिभिः* कथन महत्त्वपूर्ण है। चूँकि भगवान् दृश्य तथा अदृश्य दोनों हैं, अतः उनके भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। *विष्णु पुराण* में इस तथ्य की सुन्दर व्याख्या हुई है। भगवान् का विराट रूप तथा भगवान् का निराकार ब्रह्मतेज, अदृश्य होने के कारण निम्नतर रूप हैं। विराट रूप की कल्पना भौतिक है और निराकार ब्रह्म की कल्पना आध्यात्मिक है, किन्तु सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति तो पुरुषोत्तम भगवान् हैं। *विष्णु पुराण* का कथन है—*विष्णुर्ब्रह्मस्वरूपेण स्वयमेव व्यवस्थितः*—ब्रह्म का असली रूप विष्णु है अथवा विष्णु ही परब्रह्म हैं। *स्वयम् एव* उनका सगुण रूप है। परम आध्यात्मिक अवधारणा तो भगवान् है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम। परमं मम* कहलाने वाला धाम ही वह स्थान है, जिसे यदि कोई एक बार प्राप्त कर ले तो वहाँ से इस कष्टप्रद बद्धजीवन में फिर नहीं लौटता। हर स्थान, हर आकाश तथा हर वस्तु विष्णु की है, किन्तु जिस स्थान में वे स्वयं रहते हैं वह तद्धाम *परमम्*—उनका परम धाम है। मनुष्य को अपना गन्तव्य भगवान् का परम धाम बनाना चाहिए।

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः ।

युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; एव—ही; योगेन—योगाभ्यास द्वारा; समग्रेण—सम्पूर्ण; इह—इस संसार में; योगिनः—योगी का; युज्यते—प्राप्त होता है; अभिमतः—इच्छित; हि—निश्चय ही; अर्थः—अभिप्राय, उद्देश्य; यत्—जो; असङ्गः—वैराग्य; तु—निस्सन्देह; कृत्स्नशः—पूर्णतया।

समस्त योगियों के लिए सबसे बड़ी सूझबूझ तो पदार्थ से पूर्ण विरक्ति है, जिसे योग के विभिन्न प्रकारों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

तात्पर्य : योग तीन प्रकार के हैं—*भक्तियोग*, *ज्ञानयोग* तथा *अष्टांगयोग*। भक्त, ज्ञानी तथा योगी सभी भवबन्धन से बाहर निकलने का प्रयास करते हैं। ज्ञानी अपनी इन्द्रिय वृत्तियों को भौतिक कार्यों से पृथक् करने का प्रयास करते हैं। ज्ञानयोगी सोचता है कि पदार्थ असत्य है,

केवल ब्रह्म सत्य है, अतः ज्ञान के अनुशीलन द्वारा वह इन्द्रियों को भौतिक भोग से हटाने का यत्न करता है। अष्टांगयोगी भी इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु भक्तजन अपनी इन्द्रियों को भगवन् की सेवा में लगाते हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भक्तों के कार्य ज्ञानियों तथा योगियों से श्रेष्ठ हैं। योगीजन योग के आठ अंगों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार इत्यादि के अभ्यास द्वारा इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास करते हैं और ज्ञानीजन अपने मानसिक तर्क द्वारा यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि इन्द्रिय सुख असत्य है। किन्तु सबसे सरल तथा अत्यन्त प्रत्यक्ष विधि तो इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना है।

समस्त योगों का उद्देश्य इस संसार से इन्द्रियवृत्तियों को मोड़ना है। किन्तु अन्तिम लक्ष्य पृथक्-पृथक् हैं। ज्ञानी ब्रह्मतेज से एकाकार हो जाना चाहते हैं, योगी परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहते हैं और भक्त कष्णचेतना तथा भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति उत्पन्न करना चाहते हैं। प्रेमा-भक्ति ही इन्द्रिय-निग्रह की पूर्ण अवस्था है। इन्द्रियाँ वास्तव में जीवन के सक्रिय लक्षण हैं। इन्हें रोका नहीं जा सकता। इन्हें तभी विलग किया जा सकता है जब कोई श्रेष्ठ व्यवस्था हो। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है—*परं दृष्ट्वा निवर्तते*—इन्द्रियों के कार्यों को रोका जा सकता है यदि इन्हें श्रेष्ठ कार्य दे दिये जाँय। यह श्रेष्ठ कार्य है इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। यही सारे योग का उद्देश्य है।

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम् ।

अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; एकम्—एक; पराचीनैः—पराङ्मुख; इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; ब्रह्म—परम सत्य; निर्गुणम्—गुणों से परे; अवभाति—प्रकट होता है; अर्थ-रूपेण—विभिन्न विषयों के रूप में; भ्रान्त्या—भूल से; शब्द-आदि—शब्द इत्यादि; धर्मिणा—से युक्त।

जो अध्यात्म से पराङ्मुख हैं, वे परम सत्य (परमेश्वर) को कल्पित इन्द्रिय-प्रतीति द्वारा अनुभव करते हैं, अतः भ्रान्तिवश उन्हें प्रत्येक वस्तु सापेक्ष प्रतीत होती है।

तात्पर्य : परम सत्य भगवान् एक हैं, किन्तु अपने निराकार स्वरूप के कारण सर्वत्र व्याप्त हैं। इसका स्पष्ट उल्लेख *भगवद्गीता* में है। भगवान् कहते हैं, “जो कुछ भी अनुभव किया

जाता है, वह मेरी शक्ति का ही विस्तार है।” हर वस्तु उन्हीं पर आश्रित है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे हर वस्तु हैं। इन्द्रिय प्रतीतियाँ यथा ढोल की आवाज की श्रुति प्रतीति, सुन्दर स्त्री की दृश्य प्रतीति या जीभ द्वारा दूध की बनी सुस्वादु वस्तुओं की स्वाद-प्रतीति—ये सब भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से प्राप्त होती हैं, फलतः भिन्न-भिन्न प्रकार से समझी जाती हैं। इसीलिए ऐन्द्रिय ज्ञान कई श्रेणियों में विभाजित है, यद्यपि सभी वस्तुएँ परमेश्वर की शक्ति के रूप में एक ही हैं। इसी प्रकार अग्नि की शक्तियाँ उष्मा तथा प्रकाश हैं और इन दोनों शक्तियों के द्वारा अग्नि कई रूपों में प्रकट हो सकती है। मायावादी चिन्तक इस विविधता को असत्य घोषित करते हैं, किन्तु वैष्णव चिन्तक ऐसा नहीं मानते। वे इन्हें भगवान् से अभिन्न मानते हैं, क्योंकि इनसे भगवान् की विविध शक्तियों का प्रदर्शन होता है।

वैष्णव दार्शनिक इस दर्शन को स्वीकार नहीं करते कि परमेश्वर सत्य है और यह सृष्टि असत्य (झूठी) है (*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*)। यद्यपि यह उदाहरण दिया जाता है कि सारी चमकने वाली वस्तुएँ सोना नहीं होतीं, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं होता कि चमकने वाली वस्तुएँ असत्य हैं। उदाहरणार्थ, सीपी सुनहली प्रतीत होती है। इसका सुनहला रंग आँखों की प्रतीति के कारण है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सीपी असत्य है। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण के स्वरूप को देखकर कोई यह नहीं जान सकता कि वास्तव में वे क्या हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे असत्य हैं। कृष्ण के स्वरूप को ज्ञानग्रन्थों यथा *ब्रह्म-संहिता* में वर्णित स्वरूप के आधार पर जाना जाता है। *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः*—भगवान् कृष्ण का आध्यात्मिक शरीर शाश्वत एवं आनन्दमय है। अपनी अपूर्ण अनुभूति के कारण हम भगवान् के रूप को समझ नहीं पाते। हमें उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करना होता है। इसीलिए यहाँ पर *ज्ञानम् एकम्* कहा गया है। *भगवद्गीता* इसकी पुष्टि करती है कि जो लोग कृष्ण को देखकर उन्हें सामान्य व्यक्ति समझते हैं, वे मूर्ख हैं। वे भगवान् के असीम ज्ञान, शक्ति तथा ऐश्वर्य को नहीं जानते। भौतिक इन्द्रिय-कल्पना से निष्कर्ष निकलता है कि परमेश्वर स्वरूपहीन (निराकार) हैं। ऐसी ही कल्पना के कारण बद्धजीव माया के वशीभूत होकर अज्ञान में रहा

आता है। परम पुरुष को *भगवद्गीता* में उन्हीं के द्वारा उच्चरित वाणी से समझा जा सकता है जहाँ वे स्वयं कहते हैं कि मुझसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है और निराकार ब्रह्मतेज मुझमें ही वास करता है। *भगवद्गीता* की शुद्ध एवं पूर्ण दृष्टि की तुलना गंगा नदी से की जाती है। गंगाजल इतना शुद्ध है कि उससे गधे तथा गौवें भी शुद्ध हो जाती हैं। किन्तु यदि गंगा की उपेक्षा करके कोई गंदे नाले के जल से शुद्ध होना चाहे तो वह सफल नहीं होगा। इसी प्रकार केवल शुद्ध परमेश्वर के मुख से ही सुनकर शुद्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जो भगवान् से विमुख हैं, वे अपनी अपूर्ण इन्द्रियों से परम सत्य की प्रकृति के विषय में चिन्तन करते हैं। निराकार ब्रह्म का ज्ञान केवल कानों से ग्रहण किया जा सकता है, साक्षात् अनुभव से नहीं, फलतः ज्ञान श्रोत्र अनुभव से (सुनकर) प्राप्त किया जाता है। *वेदान्त-सूत्र* में पुष्टि हुई—*शास्त्र योनित्वात्*—केवल प्रामाणिक शास्त्रों से शुद्ध ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। परम सत्य के विषय में तथाकथित काल्पनिक तर्क व्यर्थ हैं। जीव की वास्तविक पहचान उसकी चेतना है, जो उसके जगते, सोते तथा सपने में भी सदा विद्यमान रहती है। यहाँ तक कि प्रगाढ़ निद्रा में भी वह अपनी चेतना से अपने को सुखी या दुखी देखता है। इस प्रकार जब सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक पदार्थों के माध्यम से चेतना प्रकट होती है, तो वह प्रच्छन्न रहती है, किन्तु जब चेतना कृष्णचेतना में रहकर शुद्ध हो जाती है, तो मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है।

जब शुद्ध ज्ञान प्रकृति के गुणों से अनावृत होता है तभी जीव की वास्तविक पहचान हो पाती है कि वह भगवान् का शाश्वत दास है। यह अनावरण इस प्रकार से होता है : सूर्य की किरणें प्रकाशमान होती हैं और सूर्य स्वयं भी प्रकाशमान है, किन्तु जब सूर्य का प्रकाश बादल से या माया से आच्छादित हो जाता है, तो अंधकार या अधूरा ज्ञान प्रारम्भ होता है। अतः अज्ञान के अंधकार से निकलने के लिए अपनी आध्यात्मिक चेतना या कृष्णचेतना को शास्त्रानुमोदित विधि से जगाना होता है।

यथा महानहंरूपस्त्रिवृत्पञ्चविधः स्वराट् ।

एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद्यतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; महान्—महत्-तत्त्व; अहम्-रूपः—मिथ्या, अहंकार; त्रि-वृत्—प्रकृति के तीन गुण; पञ्च-विधः—पाँच भौतिक तत्त्व; स्व-राट्—व्यष्टि चेतना; एकादश-विधः—ग्यारह इन्द्रियाँ; तस्य—जीव की; वपुः—शरीर; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; जगत्—विश्व; यतः—जिससे।

मैंने महत् तत्त्व या समग्र शक्ति से अहंकार, तीनों गुण, पाँचों तत्त्व, व्यष्टि चेतना, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शरीर उत्पन्न किये हैं। इसी प्रकार मुझ भगवान् से ही सारा ब्रह्माण्ड प्रकट हुआ।

तात्पर्य : परमेश्वर को महत्-पद के रूप में वर्णित किया गया है, जिसका अर्थ है कि समग्र भौतिक शक्ति, जिसे महत्-तत्त्व कहते हैं, उनके चरणकमलों पड़ी लेटी है। दृश्यजगत् की उत्पत्ति या समग्र शक्ति महत्-तत्त्व है। महत्-तत्त्व से ही अन्य चौबीस विभाग हुए जो इस प्रकार हैं—ग्यारह इन्द्रियाँ (मन समेत), पाँच विषय, पाँच तत्त्व, चेतना, बुद्धि तथा अहंकार। चूँकि भगवान् ही महत्-तत्त्व के कारणस्वरूप हैं, अतः एक प्रकार से प्रत्येक वस्तु परमेश्वर से उद्भूत है, अतः भगवान् एवं दृश्य जगत् में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु उसी के साथ ही दृश्य जगत् भगवान् से भिन्न है। यहाँ पर स्वराट् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है 'स्वतन्त्र'। परमेश्वर स्वतन्त्र हैं और जीवात्मा भी स्वतन्त्र है। फिर भी इन दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता में कोई साम्य नहीं है, क्योंकि जीव कुछ-कुछ स्वतन्त्र है और भगवान् पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हैं। जिस प्रकार प्रत्येक जीव के भौतिक शरीर होता है, जो पाँच तत्त्वों तथा इन्द्रियों से निर्मित है, उसी तरह यह ब्रह्माण्ड परम स्वतन्त्र भगवान् का विराट् शरीर है। शरीर नाशवान है उसी तरह परमेश्वर का शरीर रूपी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी नाशवान है और ये दोनों प्रकार के शरीर महत्-तत्त्व से ही बने हैं। अतः बुद्धि से इस अन्तर को समझना चाहिए। हर व्यक्ति जानता है कि उसका शरीर एक दिव्य स्फुलिंग से उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार विराट् शरीर परमात्मा या परम स्फुलिंग से उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार प्रत्येक शरीर आत्मा से उत्पन्न है उसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड रूपी विराट् शरीर परमात्मा से उत्पन्न है। जिस प्रकार प्रत्येक आत्मा चेतना से युक्त है उसी तरह परमात्मा भी है। इस प्रकार परमात्मा तथा आत्मा में साम्य होने पर भी आत्मा की

चेतना सीमित है और परमात्मा की असीम है। इसका वर्णन *भगवद्गीता* (१३.३) में इस प्रकार हुआ है—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि*—परमात्मा प्रत्येक कर्मक्षेत्र में उपस्थित रहता है, जिस प्रकार कि प्रत्येक शरीर में आत्मा रहता है। दोनों ही चेतन हैं। अन्तर इतना ही है कि व्यष्टि आत्मा केवल व्यष्टि शरीर के प्रति चेतन है, जबकि परमात्मा समस्त शरीरों के प्रति है।

एतद्वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः ।
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्त्या परिपश्यति ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वै—निश्चय ही; श्रद्धया—श्रद्धा से; भक्त्या—भक्ति से; योग-अभ्यासेन—योगाभ्यास से; नित्यशः—सदैव; समाहित-आत्मा—स्थिर चित्त वाला; निःसङ्गः—भौतिक संगति से विलग; विरक्त्या—विरक्ति से; परिपश्यति—समझता है।

यह पूर्ण ज्ञान उस व्यक्ति को प्राप्त होता है, जो पहले से ही श्रद्धा, तन्मयता तथा पूर्ण विरक्ति सहित भक्ति में लगा रहता है और भगवान् के विचार में निरन्तर निमग्न रहता है। वह भौतिक संगति से निर्लिप्त रहता है।

तात्पर्य : इस पूर्णज्ञान को योग का अभ्यासकर्ता नास्तिक नहीं जान सकता। केवल ऐसे व्यक्ति, जो पूर्ण कृष्ण चेतना में भक्ति के व्यावहारिक कार्यों में लगे रहते हैं, वे पूर्ण समाधि में समाहित हो सकते हैं। वे ही समग्र दृश्य जगत तथा इसके कारण सम्बन्धी वास्तविक तथ्य को देख और समझ सकते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है, जिसने पूर्ण श्रद्धा समेत भक्ति विकसित नहीं की है उसके लिए यह समझ पाना असम्भव है। *समाहितात्मा* तथा *समाधि* पर्यायवाची शब्द हैं।

इत्येतत्कथितं गुर्वि ज्ञानं तद्ब्रह्मदर्शनम् ।
येनानुबुद्ध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एतत्—यह; कथितम्—वर्णित; गुर्वि—आदरणीय माता; ज्ञानम्—ज्ञान; तत्—उस; ब्रह्म—परम सत्य; दर्शनम्—प्राकट्य; येन—जिससे; अनुबुद्ध्यते—समझा जाता है; तत्त्वं—सत्य; प्रकृतेः—पदार्थ का; पुरुषस्य—आत्मा का; च—तथा।

आदरणीय माता, मैंने पहले ही आप को ही परम सत्य जानने का मार्ग बता दिया है,

जिससे मनुष्य पदार्थ तथा आत्मा एवं उनके सम्बन्ध के वास्तविक सत्य को समझ सकता है।

ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः ।

द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान-योगः—दार्शनिक शोध; च—तथा; मत्-निष्ठः—मुझको लक्षित करके; नैर्गुण्यः—प्रकृति के गुणों से मुक्त; भक्ति—भक्ति; लक्षणः—नामक; द्वयोः—दोनों का; अपि—और; एकः—एक; एव—निश्चय ही; अर्थः—अभिप्राय; भगवत्—भगवान्; शब्द—शब्द से; लक्षणः—बताने वाला।

दार्शनिक शोध का लक्ष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जानना है। इस ज्ञान को प्राप्त करके जब मनुष्य प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है, तो उसे भक्ति की अवस्था प्राप्त होती है। मनुष्य को चाहे, प्रत्यक्षतः भक्ति से हो या दार्शनिक शोध से हो, एक ही गन्तव्य की खोज करनी होती है और वह है भगवान्।

तात्पर्य : भगवद्गीता में कहा गया है कि अनेकानेक जीवन पर्यन्त ज्ञानयोग का शोध करने के बाद अन्ततः मनुष्य उस बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ उसे ज्ञात होता है कि भगवान् वासुदेव ही सब कुछ हैं, अतः वह उनकी शरण में जाता है। ऐसे ज्ञानयोग की शोध करने वाले विरले महापुरुष हैं। यदि ज्ञानयोग की खोज करके कोई भगवान् को प्राप्त नहीं होता तो समझिये कि सारा श्रम व्यर्थ हुआ। उसे तब तक ज्ञान की खोज करनी पड़ती है जब तक कि वह भगवान् की भक्ति को नहीं समझ लेता।

भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने का अवसर भगवद्गीता में दिया हुआ है जहाँ इसका उल्लेख है कि जो लोग चिन्तन तथा योगाभ्यास जैसी अन्य विधियों का सहारा लेते हैं उन्हें कष्ट मिलता है। योगी या कुशल ज्ञानी अनेकानेक कठिनाइयों के बाद भगवान् तक पहुँच सकता है, किन्तु उसका मार्ग अत्यधिक कष्टप्रद होता है, जबकि भक्ति का मार्ग सबों के लिए सुगम है। मनुष्य को ज्ञानयोग का फल केवल भक्ति करने से प्राप्त हो सकता है और जब तक मनुष्य अपने चिन्तन द्वारा भगवान् तक नहीं पहुँच जाता तब तक उसकी सारी खोज केवल खिलवाड़ होती है। पटुज्ञानी का अन्तिम लक्ष्य निराकार ब्रह्म से तादात्म्य है, किन्तु ब्रह्म तो

परम पुरुष का तेज है। भगवान् कृष्ण भगवद्गीता (१४.२७) में कहते हैं—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् अमृतस्याव्ययस्य च*—मैं निराकार ब्रह्म का आधार हूँ जो अविनाशी तथा परमानन्द हैं। भगवान् समस्त आनन्द के सागर हैं जिसमें ब्रह्मानन्द सम्मिलित है, अतः जिसकी भगवान् पर अविचल श्रद्धा है, वह पहले ही निराकार ब्रह्म तथा परमात्मा का साक्षात्कार कर चुकता है।

यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः ।

एको नानेयते तद्ब्रह्मगवान्शास्त्रवर्त्मभिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; इन्द्रियैः—इन्द्रियों से; पृथक्-द्वारैः—विभिन्न प्रकार से; अर्थः—वस्तु; बहु-गुण—अनेक गुणों; आश्रयः—से युक्त; एकः—एक; नाना—भिन्न-भिन्न प्रकार से; ईयते—अनुभव किया जाता है; तद्वत्—उसी प्रकार; भगवान्—भगवान्; शास्त्र-वर्त्मभिः—विभिन्न शास्त्रीय आदेशों के अनुसार।

एक ही वस्तु अपने विभिन्न गुणों के कारण भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण की जाती है। इसी तरह भगवान् एक है, किन्तु विभिन्न शास्त्रीय आदेशों के अनुसार वह भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानयोग के मार्ग पर चलकर मनुष्य निराकार ब्रह्म तक पहुँचता है, किन्तु कृष्ण-चेतना में भक्ति करने से उसकी भगवान् में श्रद्धा तथा भक्ति बढ़ती है। किन्तु यहाँ यह कहा गया है कि भक्तियोग तथा ज्ञानयोग दोनों एक ही लक्ष्य—भगवान्—तक पहुँचने के लिए हैं। ज्ञानयोग की विधि से वही भगवान् निराकार प्रतीत होता है। जिस तरह एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न लगती है उसी तरह एक ही परमेश्वर चिन्तन द्वारा निराकार प्रतीत होता है। एक पहाड़ी दूर से बादल जैसी लगती है और इस के कारण अनजान व्यक्ति इसे बादल मान सकता है, किन्तु वास्तव में यह बादल नहीं है, यह एक बड़ी-सी पहाड़ी है। मनुष्य को प्रमाण से सिखना होता है कि बादल का दृश्य बादल न होकर पहाड़ी है। यदि कोई थोड़ा-थोड़ा करके आगे बढ़े तो बादल के बदले उसे पहाड़ी तथा हरियाली दिखने लगती है। जब कोई सचमुच ही पहाड़ी पर पहुँच जाता है, तो उसे तरह-तरह की वस्तुएँ दिख सकती हैं। दूसरा उदाहरण दूध का है। जब हम दूध को देखते हैं, तो यह सफेद लगता है, जब उसे चखते हैं, तो स्वादिष्ट लगता है। छूने पर ठंडा लगता है, सूँघने पर

सुगन्धित लगता है और सुन कर इसे दूध समझा जाता है। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा दूध का अनुभव करने पर हम कहते हैं कि यह एक सफेद, स्वादिष्ट, सुगन्धित वस्तु है। वास्तव में यह दूध है। इसी प्रकार जो लोग चिन्तन द्वारा भगवान् को खोजना चाहते हैं, वे उनके शारीरिक तेज या निराकार ब्रह्म तक पहुँच सकते हैं और जो भगवान् को योगाभ्यास द्वारा पाना चाहते हैं, वे उन्हें अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु जो लोग भक्तियोग द्वारा भगवान् के पास पहुँचना चाहते हैं, वे साक्षात् परम पुरुष का दर्शन कर सकते हैं।

अन्ततः परम पुरुष ही सारी विधियों का गन्तव्य है। जो भाग्यशाली पुरुष शास्त्रों के नियमों का पालन करते हुए समस्त भौतिक कल्मषों से पूर्णतया शुद्ध हो जाता है, वह परमेश्वर को सब कुछ मान कर उनकी शरण में चला जाता है। जिस प्रकार दूध का वास्तविक स्वाद आँख, नथुनों या कानों से न लेकर जीभ से लिया जाता है उसी तरह मनुष्य परम सत्य का आनन्द केवल एक ही मार्ग—भक्ति—द्वारा प्राप्त कर सकता है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति*—यदि कोई परम सत्य को पूरी तरह जानना चाहता है, तो उसे भक्ति करनी चाहिए। निस्सन्देह परम सत्य को कोई पूरी तरह समझ नहीं सकता। एक लघु जीव के लिए यह सम्भव नहीं है। किन्तु भक्ति सम्पन्न करके जीवात्मा ज्ञान के चरम—विन्दु तक पहुँच सकता है, अन्य विधि से नहीं।

विभिन्न शास्त्रीय मार्गों का अनुसरण करके मनुष्य भगवान् के निराकार तेज तक पहुँच सकता है। भगवान् के साथ तादात्म्य या निराकार ब्रह्म के ज्ञान से दिव्य आनन्द मिलता है, क्योंकि ब्रह्म अनन्त है। *तद् ब्रह्म निष्कलं अनन्तम्*—ब्रह्मानन्द अनन्त है। किन्तु इस अनन्त आनन्द के भी परे जाया जा सकता है। यह गुणातीत है। अनन्त को भी लाँघने पर जो उच्च पद प्राप्त होता है, वह कृष्ण है। श्रीकृष्ण की भक्ति से आदान-प्रदान द्वारा जो मधु एवं रस प्राप्त होता है, वह अतुलनीय है और वह ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर है। अतः प्रबोधानन्द स्वामी कहते हैं कि 'कैवल्य' या ब्रह्मानन्द निस्सन्देह अत्यन्त महान् है और अनेक ज्ञानियों द्वारा प्रशंसित है, किन्तु यह ब्रह्मानन्द उस भक्त के लिए नरक तुल्य है, जिसने भगवान् की भक्ति से सुख प्राप्त

करना सीख लिया है। अतः कृष्ण से साक्षात्कार करने के लिए मनुष्य को ब्रह्मानन्द को भी पार करना सीखना होता है। चूँकि मन समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों का केन्द्र है इसलिए कृष्ण को इन्द्रियों का स्वामी या 'हृषीकेश' कहा जाता है। इसकी विधि है मन को कृष्ण या हृषीकेश पर स्थिर करना, जैसाकि महाराज अम्बरीष ने किया (स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः)। भक्ति समस्त विधियों का मूल सिद्धान्त है। भक्ति के बिना न तो ज्ञानयोग और न अष्टांग-योग सफल हो सकता है और कृष्ण तक पहुँचे बिना आत्म-साक्षात्कार के सिद्धान्तों का कोई चरम लक्ष्य नहीं होता।

क्रियया क्रतुभिर्दानैस्तपःस्वाध्यायमर्शनैः ।

आत्मेन्द्रियजयेनापि सन्न्यासेन च कर्मणाम् ॥ ३४ ॥

योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि ।

धर्मेणोभयचिह्नेन यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान् ॥ ३५ ॥

आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च ।

ईयते भगवानेभिः सगुणो निर्गुणः स्वदृक् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

क्रियया—सकाम कर्म से; क्रतुभिः—यज्ञ से; दानैः—दान से; तपः—तपस्या; स्वाध्याय—वैदिक साहित्य का अध्ययन; मर्शनैः—तथा ज्ञानयोग के द्वारा; आत्म-इन्द्रिय-जयेन—मन तथा इन्द्रियों को वश में करने से; अपि—भी; सन्न्यासेन—संन्यास के द्वारा; च—तथा; कर्मणाम्—सकाम कर्मों का; योगेन—योग से; विविध-अङ्गेन—विविध विभागों वाले; भक्ति-योगेन—भक्ति से; च—तथा; एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह; धर्मेण—नियत कार्यों से; उभय-चिह्नेन—दोनों लक्षणों वाले; यः—जो; प्रवृत्ति—आसक्ति; निवृत्ति-मान्—वैराग्य से युक्त; आत्म-तत्त्व—आत्म-साक्षात्कार का विज्ञान; अवबोधेन—ज्ञान से; वैराग्येण—वैराग्य से; दृढेन—दृढ़; च—तथा; ईयते—अनुभव किया जाता है; भगवान्—भगवान्; एभिः—इनसे; स-गुणः—भौतिक संसार में; निर्गुणः—गुणों से परे; स्व-दृक्—अपनी वैधानिक स्थिति को देखने वाला।

सकाम कर्म तथा यज्ञ सम्पन्न करके, दान देकर, तपस्या करके, विविध शास्त्रों के अध्ययन से, ज्ञानयोग से, मन के निग्रह से, इन्द्रियों के दमन से, संन्यास ग्रहण करके तथा अपने आश्रम के कर्तव्यों का निर्वाह करके, योग की विभिन्न विधियों को सम्पन्न करके, भक्ति करके तथा आसक्ति और विरक्ति के लक्षणों से युक्त भक्तियोग को प्रकट करके, आत्म-साक्षात्कार के विज्ञान को जान करके तथा प्रबल वैराग्य भाव जागृत करके आत्म-साक्षात्कार की विभिन्न विधियों को समझने में अत्यन्त पटु व्यक्ति उस रूप में भगवान् का साक्षात्कार करता है जैसा कि वे भौतिक जगत में तथा अध्यात्म में

निरूपित किये जाते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में बताया गया है, शास्त्रों के नियमों का पालन करना होता है। विभिन्न वर्णाश्रमों में व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न कार्य बताये गये हैं। यहाँ बताया गया है कि सकाम कर्म तथा यज्ञ करना और दान देना—ये गृहस्थाश्रम के कर्म हैं। आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। गृहस्थों के लिए यज्ञ करने, दान देने तथा नियत कर्मों के अनुसार कर्म करने की संस्तुति की गई है। इसी प्रकार तपस्या, वेदाध्ययन तथा ज्ञान की खोज—ये वानप्रस्थों के लिए हैं। ब्रह्मचारी या छात्र के लिए प्रामाणिक गुरु से वेदों का अध्ययन करना करणीय बताया गया है। जो संन्यासी हैं उनके लिए *आत्मेन्द्रिय-जय*—अर्थात् मन का निरोध तथा इन्द्रियों को वश में करना होता है। ये विभिन्न कार्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए हैं जिससे वे आत्म-साक्षात्कार के पद तक ऊपर उठें जहाँ से वे कृष्णचेतना अर्थात् भक्ति को प्राप्त हों।

भक्ति योगेन चैव हि का अर्थ यह है कि श्लोक ३४ के अनुसार जो भी करणीय है, चाहे वह योग हो या यज्ञ, कर्म, वेदाध्ययन या संन्यास ग्रहण, उसे भक्तियोग में सम्पन्न करना चाहिए। *चैव हि* शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार बताते हैं कि मनुष्य को ये सारे कार्य भक्ति के साथ-साथ करने चाहिए अन्यथा इन कार्यों का कोई फल नहीं प्राप्त होगा। कोई भी नियत कर्म भगवान् के लिए होना चाहिए। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२७) में हुई है—*यत्करोषि यदश्नासि*—“तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी यज्ञ करो, जो भी तपस्या करो और जो भी दान दो, उन सबका फल परमेश्वर को दिया जाना चाहिए।” यहाँ पर *एव* शब्द जोड़ दिया गया है, जो यह बताता है कि ये कर्म इस तरह अवश्य किये जायँ। जब तक सारे कर्मों के साथ भक्ति नहीं की जाती तब तक वांछित फल नहीं मिलता, किन्तु जब हर कार्य में भक्तियोग को प्रधानता मिलती है, तो अन्तिम लक्ष्य अवश्य प्राप्त होता है।

मनुष्य को भगवान् कृष्ण तक पहुँचना होता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, “अनेकानेक जन्मों के पश्चात् मनुष्य परम पुरुष कृष्ण के पास पहुँचता है और यह जानकर

उनकी शरण ग्रहण करता है कि वे सब कुछ हैं।” *भगवद्गीता* में ही भगवान् यह भी कहते हैं भोक्तारं यज्ञतपसाम्—“समस्त यज्ञों अथवा कठिन तपस्या के भोक्ता भगवान् हैं।” वह सारे लोकों का स्वामी है और प्रत्येक जीवात्मा का सखा है।

धर्मेणोभयचिह्नेन का अर्थ है कि भक्तियोग के दो लक्षण हैं—भगवान् के प्रति आसक्ति तथा समस्त भौतिक सम्बन्धों से विरक्ति। जिस प्रकार भोजन करते समय दो प्रकार के कार्य होते हैं उसी तरह भक्तियोग की प्रगति के दो लक्षण होते हैं। भोजन करने से भूखे व्यक्ति को शक्ति तथा सन्तोष मिलता है तथा साथ ही और अधिक भोजन करने से विरक्ति होती जाती है। इस प्रकार भक्ति करने से वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है और मनुष्य समस्त भौतिक कार्यों से विरक्त होता जाता है। भक्ति के द्वारा पदार्थ से जैसी विरक्ति तथा परमेश्वर के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, वह अन्य किसी कर्म से नहीं हो पाती। परमेश्वर के प्रति इस आसक्ति को बढ़ाने की नौ विभिन्न विधियाँ हैं—ये हैं श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, सेवा, सख्यभाव, प्रार्थना, सर्वस्व अर्पण तथा भगवान् के चरणकमलों की सेवा। वैराग्य उत्पन्न करने वाली विधियाँ श्लोक ३६ में बताई गई हैं।

मनुष्य अपने नियत कार्यों को सम्पन्न करके तथा यज्ञ द्वारा स्वर्गलोक जैसे उच्च लोकों को प्राप्त कर सकता है। जब संन्यास ग्रहण करके मनुष्य ऐसी इच्छाओं से ऊपर उठ जाता है, तो वह परमेश्वर के ब्रह्म-स्वरूप को समझ सकता है और जब वह अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति देख लेता है, तो वह अन्य सभी विधियों को देख लेता है और तब शुद्ध भक्ति की अवस्था में स्थित हो जाता है। उस समय वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को समझ सकता है।

परम पुरुष का ज्ञान *आत्म-तत्त्व-अवबोधेन* कहलाता है, जिसका अर्थ है, “स्वयं की स्वाभाविक स्थिति को समझना”। यदि कोई सचमुच परमेश्वर के शाश्वत दास के रूप में अपनी वैधानिक स्थिति को समझ जाता है, तो वह संसार की सेवा से विरक्त हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार की सेवा में लगा है। यदि कोई अपनी स्वाभाविक स्थिति से परिचित नहीं होता तो वह अपने स्थूल शरीर, अपने परिवार, समाज या देश की सेवा में लगा

रहता है। किन्तु ज्योंही वह अपनी स्वाभाविक स्थिति देख पाता है (स्वदृक् का अर्थ है “जो देखने में समर्थ है”), वह ऐसी सेवा से विरक्त होकर अपने आपको भक्तियोग में लगा लेता है।

जब तक मनुष्य भौतिक गुणों से युक्त है और शास्त्रानुमोदित अपने कर्म करता रहता है, तो वह उच्चलोकों को जा सकता है जहाँ के अधिष्ठाता देव सूर्यदेव, चन्द्रदेव, वायुदेव, ब्रह्मा तथा शिव जैसे भगवान् के भौतिक प्रतिनिधि होते हैं। सारे देवता भगवान् के भौतिक स्वरूप हैं। भौतिक कर्मों से मनुष्य केवल ऐसे देवताओं तक ही पहुँच पाता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है— *यान्ति देवव्रता देवान्*—जो लोग देवताओं पर अनुरक्त हैं और अपने नियत कर्म करते हैं, वे देवताओं के धाम तक पहुँच सकते हैं। इस तरह मनुष्य पितृलोक जा सकता है। इसी तरह जो व्यक्ति अपने जीवन की वास्तविक स्थिति ठीक से समझता है, वह भक्ति अपना लेता है और भगवान् का साक्षात्कार करता है।

प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम् ।

कालस्य चाव्यक्तगतेर्योऽन्तर्धावति जन्तुषु ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

प्रावोचम्—कहा गया; भक्ति-योगस्य—भक्ति का; स्वरूपम्—पहचान, स्वरूप; ते—तुमसे; चतुः-विधम्—चार विभागों में; कालस्य—समय का; च—भी; अव्यक्त-गतेः—जिसकी गति अलक्षित है; यः—जो; अन्तर्धावति—पीछा करता है; जन्तुषु—जीवों का।

हे माता, आपसे मैं भक्तियोग तथा चार विभिन्न आश्रमों में इसके स्वरूप की व्याख्या कर चुका हूँ। मैं आपको यह भी बता चुका कि शाश्वत काल किस तरह जीवों का पीछा कर रहा है यद्यपि यह उनसे अदृश्य रहता है।

तात्पर्य : भक्तियोग वह प्रधान नदी है, जो परम सत्य स्वरूप सागर की ओर बह रही है और यहाँ पर वर्णित अन्य सारी विधियाँ उसकी सहायक नदियाँ हैं। भगवान् कपिल भक्तियोग की महत्ता का सार-संक्षेप दे रहे हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है भक्तियोग चार विभागों में विभक्त है—तीन तो प्रकृति के गुणों के रूप में हैं तथा चौथा अध्यात्म है, जो भौतिक गुणों से अछूता है। भक्ति-योग प्रकृति के गुणों के साथ मिलकर संसार का एक साधन है, जबकि

कर्मफल की इच्छाओं से रहित तथा ज्ञानयोग के लिए प्रयासों से रहित भक्ति शुद्ध है, दिव्य भक्तिमय सेवा है।

जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः ।

यास्वङ्ग प्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

जीवस्य—जीव की; संसृतीः—संसार के मार्ग; बह्वीः—अनेक; अविद्या—अज्ञान; कर्म—कार्य से; निर्मिताः—उत्पन्न; यासु—जिनमें; अङ्ग—हे माता; प्रविशन्—प्रवेश करते हुए; आत्मा—जीव; न—नहीं; वेद—जानता है; गतिम्—गति; आत्मनः—अपनी।

अज्ञान में किये गये कर्म अथवा अपनी वास्तविक पहचान की विस्मृति के अनुसार जीवात्मा के लिए अनेक प्रकार के भौतिक अस्तित्व होते हैं। हे माता, यदि कोई इस विस्मृति में प्रविष्ट होता है, तो वह यह नहीं समझ पाता कि उसकी गतियों का अन्त कहाँ होगा।

तात्पर्य : एक बार जब कोई इस भवसागर में प्रविष्ट कर जाता है, उसमें से निकल पाना उसके लिए कठिन होता है। अतः भगवान् स्वयं आते हैं या अपना प्रामाणिक प्रतिनिधि भेजते हैं और भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत जैसे शास्त्र पीछे छोड़ते जाते हैं जिससे अज्ञान के अन्धकार में भटकते जीव इन उपदेशों, साधु-पुरुषों एवं गुरुओं का लाभ उठा सकें और इस तरह से मुक्त हो सकें। जब तक जीव को साधु-पुरुषों, गुरु या कृष्ण की कृपा प्राप्त नहीं होती तब तक इस संसार के अन्धकार से निकल पाना सम्भव नहीं होता है। अकेले अपने प्रयास से तो यह सर्वथा असंभव है।

नैतत्खलायोपदिशेन्नाविनीताय कर्हिचित् ।

न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह उपदेश; खलाय—ईर्ष्यालुओं को; उपदिशेत्—उपदेश देना चाहिए; न—नहीं; अविनीताय—अविनीत को; कर्हिचित्—कभी; न—नहीं; स्तब्धाय—घमंडी को; न—नहीं; भिन्नाय—दुराचारी को; न—नहीं; एव—निश्चय ही; धर्म-ध्वजाय—दम्भियों को; च—भी।

भगवान् कपिल ने आगे कहा : यह उपदेश उन लोगों के लिए नहीं है, जो ईर्ष्यालु हैं,

अविनीत हैं या दुराचारी हैं। न ही यह उपदेश दम्भियों या उन व्यक्तियों के लिए है, जिन्हें अपनी भौतिक सम्पदा का गर्व है।

न लोलुपायोपदिशेन्न गृहारूढचेतसे ।

नाभक्ताय च मे जातु न मद्भक्तद्विषामपि ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; लोलुपाय—लालची को; उपदिशेत्—उपदेश देवे; न—नहीं; गृह-आरूढ-चेतसे—गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त को; न—नहीं; अभक्ताय—अभक्त को; च—तथा; मे—मेरा; जातु—कभी; न—नहीं; मत्—मेरे; भक्त—भक्तगण; द्विषाम्—ईर्ष्यालुओं को; अपि—भी।

यह उपदेश न तो उन लोगों को दिया जाय जो अत्यन्त लालची हैं और गृहस्थ जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं, न ही अभक्तों और भक्तों एवं भगवान् के भक्तों तथा भगवान् के प्रति ईर्ष्या रखने वालों को दिया जाय।

तात्पर्य : जो लोग सदैव अन्य जीवों को हानि पहुँचाने की योजनाएँ बनाते रहते हैं, वे कृष्णभावनामृत को समझने के अधिकारी नहीं हैं और वे भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति के प्रक्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो सकते। साथ ही, कुछ ऐसे स्वार्थी तथाकथित शिष्य होते हैं, जो अत्यन्त दिखावटी रूप से किसी और अंशा से गुरु के प्रति विनीत बने रहते हैं। वे भी नहीं जान पाते कि कृष्णभावनामृत अथवा भक्तियोग क्या है। ऐसे व्यक्ति, जो अन्य सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण, भक्ति को भगवान् तक पहुँचने का एक-सा पद (स्थिति) नहीं समझते, वे भी कृष्णभक्ति को नहीं समझ सकते। हमारा अनुभव है कि कुछ अध्येता हमारे पास तो आते हैं, किन्तु किसी विशेष प्रकार का मताग्रह होने के कारण वे हमारा साथ छोड़कर वीराने में खो जाते हैं। वस्तुतः कृष्णभक्ति किसी सम्प्रदाय का धर्म नहीं है; यह तो परमेश्वर तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध को जानने की शिक्षण विधि है। कोई भी इस आन्दोलन में बिना किसी भेदभाव के सम्मिलित हो सकता है। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो अन्य प्रकार से अनुभव करते हैं। अतः यह श्रेयस्कर होगा कि ऐसे लोगों को कृष्णभक्ति के ज्ञान का उपदेश न दिया जाय।

सामान्यतः भौतिकतावादी व्यक्ति किसी नाम, यश तथा लाभ के पीछे लगे रहते हैं, अतः

यदि कोई इन कारणों से कृष्णभक्ति ग्रहण करता है, तो वह इस दर्शन को कभी नहीं समझ सकता। ऐसे व्यक्ति धर्म को सामाजिक अलंकरण के रूप में ग्रहण करते हैं। विशेषतः कलियुग में वे किसी सांस्कृतिक संस्थान में केवल नाम कमाने के लिए प्रवेश करते हैं। ऐसे लोग भी कृष्णचेतना के दर्शन को नहीं समझ सकते। यदि कोई सांसारिक वस्तुओं के लिए लालची न भी हो, किन्तु यदि गृहस्थ जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त है, तो वह भी कृष्णभक्ति को नहीं समझ सकता। ऊपर से ऐसे लोग भले ही लालची न लगें, किन्तु वे अपनी पत्नी, बच्चों तथा परिवार की उन्नति के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जो उपर्युक्त दोषों से कल्मषग्रस्त न हो तो भी यदि वह भगवान् की सेवा में रुचि नहीं रखता, या अभक्त है, तो वह कृष्णचेतना के दर्शन को नहीं समझ पाएगा।

श्रद्धधानाय भक्ताय विनीतायानसूयवे ।

भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्रद्धधानाय—श्रद्धालु; भक्ताय—भक्त के लिए; विनीताय—विनीत; अनसूयवे—ईर्ष्यारहित; भूतेषु—समस्त जीवों को; कृत-मैत्राय—मैत्रीभाव; शुश्रूषा—सेवा; अभिरताय—करने के लिए इच्छुक; च—तथा।

ऐसे श्रद्धालु भक्त को उपदेश दिया जाय जो गुरु के प्रति सम्मानपूर्ण, द्वेष न करने वाला, समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव रखने वाला हो तथा श्रद्धा और निष्ठापूर्वक सेवा करने के लिए उत्सुक हो।

बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयताम् ।

निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसां प्रियः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

बहिः—बाहरी; जात-विरागाय—विरागी को, अनासक्त को; शान्त-चित्ताय—शान्त मन वाले को; दीयताम्—उपदेश दिया जाय; निर्मत्सराय—मत्सरशून्य, द्वेष न रखने वाले को; शुचये—पूर्णतया शुद्ध; यस्य—जिसका; अहम्—मैं; प्रेयसाम्—प्रियों में; प्रियः—अत्यन्त प्रिय।

गुरु द्वारा यह उपदेश ऐसे व्यक्तियों को दिया जाय जो भगवान् को अन्य किसी भी वस्तु से अधिक प्रिय मानते हैं, जो किसी के प्रति द्वेष नहीं रखते, जो पूर्ण शुद्ध चित्त हैं और जिन्होंने कृष्णचेतना की परिधि के बाहर विराग उत्पन्न कर लिया है।

तात्पर्य : प्रारम्भिक स्थिति में कोई भी भक्ति की उच्चतम अवस्था को प्राप्त नहीं होता। यहाँ भक्त का अर्थ उस व्यक्ति से है, जो भक्त बनने के लिए सुधारवादी विधियों को स्वीकार करने में हिचकता नहीं। भगवद्भक्त बनने के लिए मनुष्य को गुरु बनाना पड़ता है और उससे भक्ति विषयक प्रगति के विषय में जिज्ञासा करनी होती है। भक्ति में प्रगति करने के चौंसठ भक्ति-कार्य हैं जिनमें से कुछ हैं—भक्त की सेवा, जप विधि के अनुसार पवित्र नाम का जप, विग्रह-पूजन, *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* को सिद्ध पुरुष से सुनना और ऐसे पवित्र स्थान में रहना जहाँ भक्ति में विघ्न न पड़े। जो इन पाँच प्रमुख कार्यों को करता है, वह भक्त है।

मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु का यथेष्ट सम्मान करे। उसे अपने गुरुभाइयों के प्रति द्वेष नहीं रखना चाहिए। अपितु यदि वह अधिक प्रबुद्ध है और कृष्णभक्ति में बढ़ा-चढ़ा है, तो उसे गुरु-तुल्य मानना चाहिए और ऐसे गुरुभाइयों को कृष्णभावनामृत में उन्नति करते देखकर प्रसन्न होना चाहिए। भक्त को चाहिए कि सामान्य-जनता को कृष्णभक्ति का उपदेश देने में अत्यन्त दयालु बने, क्योंकि माया के पाश से निकलने का एकमात्र समाधान यही है। यही वास्तविक लोक-कल्याण है, क्योंकि उन लोगों के प्रति दया दिखाने की यही विधि है जिन्हें इसकी आवश्यकता है। *शुश्रूषाभिरताय* शब्द उस व्यक्ति का सूचक है, जो गुरु की सेवा में श्रद्धापूर्वक निरत रहता है। गुरु की समस्त प्रकार से सेवा की जानी चाहिए और सारी सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए जो भक्त ऐसा करता है, वह भी इन उपदेशों को ग्रहण करने के लिए पात्र है। *बहिर्जात विरागाय* शब्द उस व्यक्ति का सूचक है, जिसने आन्तरिक तथा बाह्य भौतिक कामनाओं से वैराग्य प्राप्त कर लिया है। वह कृष्णभक्ति से सम्बन्ध न रखने वाले कार्यकलापों से विरत तो है ही, साथ ही उसे आन्तरिक रूप से भौतिक जीवन से विमुख होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को ईर्ष्यारहित होना चाहिए और सभी जीवों की—न केवल मनुष्यों की, अपितु उनके अतिरिक्त सारे जीवों की—कल्याण की कामना करनी चाहिए। *शुचये का अर्थ है भीतर और बाहर से शुद्ध व्यक्ति। अन्दर और बाहर से शुद्ध बनने के लिए मनुष्य को भगवान् कृष्ण या विष्णु के पवित्र नाम का कीर्तन करना चाहिए।*

दीयताम् शब्द बताता है कि कृष्णभक्ति का ज्ञान गुरु द्वारा दिया जाना चाहिए। गुरु को चाहिए कि अयोग्य शिष्य को स्वीकार न करे, स्वयं व्यावसायिक न बने और अर्थलाभ के लिए शिष्य न बनाए। प्रामाणिक गुरु को चाहिए कि वह उस व्यक्ति के प्रामाणिक गुणों को देखे जिसे वह दीक्षित करने जा रहा है। अयोग्य व्यक्ति दीक्षित न हो। गुरु अपने शिष्य को इस तरह प्रशिक्षित करे कि भविष्य में उसके जीवन का उद्देश्य एकमात्र भगवान् रहे।

इन दो श्लोकों में भक्त के गुणों की पूरी व्याख्या है। जिसने इन श्लोकों में वर्णित समस्त गुणों का विकास कर लिया है, वह पहले से भक्त-पद को प्राप्त है। यदि उसने इन सारे गुणों को विकसित नहीं किया है, तो उसे अब भी इन प्रतिबन्धों को पूरा करना होगा, जिससे वह कुशल भक्त बन सके।

य इदं शृणुयादम्ब श्रद्धया पुरुषः सकृत् ।

यो वाभिधत्ते मच्चित्तः स ह्येति पदवीं च मे ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; इदम्—इसको; शृणुयात्—सुनेगा; अम्ब—हे माता; श्रद्धया—श्रद्धा से; पुरुषः—व्यक्ति; सकृत्—एक बार; यः—जो; वा—अथवा; अभिधत्ते—उच्चारण करता है; मत्-चित्तः—अपने मन को मुझ पर स्थित करके; सः—वह; हि—निश्चय ही; एति—प्राप्त करता है; पदवीम्—धाम को; च—तथा; मे—मेरा।

जो कोई श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक एक बार मेरा ध्यान करता है, मेरे विषय में सुनता तथा कीर्तन करता है, वह निश्चय ही भगवान् के धाम को वापस जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत “कर्म-बन्धन” नामक बत्तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।